ये. चाजोव

हृदय और 20-वीं सदी

ललित विज्ञान साहित्य

हृदय और
20-वीं सदी

प्रस्तुत पुस्तक में ये० चाजोव हृदय तथा रक्त-वाहिकाओं के रोगों, उनकी पहचान तथा चिकित्सा के आधुनिक साधनों, औजारों और विधियों का वर्णन करते हैं। साथ-साथ वे सोवियत संघ में संगठित की गयी विशेष हृदलोचनी सेवा, प्रतिभावान सोवियत आयुरकों और एक चिकित्सक की कल्याणकारी जीविका के बारे में भी बताते हैं।

प्रकाशनाधीन

द्मी. जातूला, से. मामेदोवा

विषाणु – मित्र या शत्रु

ई. पेत्र्यानोव

विश्व का सबसे विलक्षण द्रव्य

व्ला. कुज्नेत्सोव

प्रकाश

वि. ग्लुश्कोव

चालिकी क्या है?

Е.И. Чазов

Сердце и XX век

Москва „Педагогика“

ये. चाजोव

हृदय और 20-वीं सदी

मीर प्रकाशन, मास्को

पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस (प्रा) लिमिटेड
नई दिल्ली

राजस्थान पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस (प्रा) लिमिटेड
जयपुर

Y. Chazov
The Heart and the 20-th Century

अनुवादक : देवेंद्र प्र. वर्मा

на языке хинди

सोवियत संघ में मुद्रित

© Педагогика, 1982

© हिन्दी अनुवाद, मीर प्रकाशन, 1987

विषय-सूची

अनुवादक की ओर से

विशेष. 1. आधुनिक 'मेडीसीन' के लिये शब्द 'आयुर' रखा गया है, क्योंकि इसमें 'चिकित्सा' से अधिक व्यापक अर्थ भरा जा सकता है (दे० परिशिष्ट) ; प्राचीन भारतीय आयुर-ज्ञान के लिये आयुर्वेद शब्द है।

2. कार्डियोलोजी जैसे शब्दों के अंतिम भाग – लोजी – के लिये विज्ञान की जगह लोचन का प्रयोग किया गया है, क्योंकि 'विज्ञान' के स्वतंत्र प्रयोग की आवृत्ति भी कम नहीं है और इसके कारण कई बार असुविधाजनक स्थितियां उत्पन्न हो जाती हैं। संस्कृत 'लोच्' से बने 'लोचन' का प्रत्यक्ष अर्थ है – देखने की क्रिया, दर्शन, ईक्षण, निरीक्षण। अतः परोक्ष अर्थ 'अध्ययन' भी संभव है। इसी अर्थ के प्रकाश में 'लोचक' को भी देखा जा सकता है ; शब्दकोष द्वारा दिये गये अर्थों में इसके प्रयोग की आवृत्ति आधुनिक हिन्दी में नहीं के बराबर है।

सामान्य. 3. आयुर की 'भाषा' (विशेषकर नामावली, पारिभाषिक शब्दावली) लातीनी पर आधारित होने के कारण आयुर के पठन-पाठन की जो समस्याएं हिन्दी में हैं, वे अंग्रेजी, जर्मन, रूसी आदि भाषाओं में भी हैं। इसके हल हैं: अपनी भाषा में पदों को अर्थानुसार लातीनी पर्यायों के निकट लाना,

लातीनी शब्दों को आत्मसात करना, लातीनी सीखना (कम से कम शब्द-निर्माण और व्युत्पत्ति; कई देशों में आयुर के छात्र पूरा व्याकरण भी सीखते हैं)। अकेले कोई भी हल पर्याप्त नहीं है।

4. अक्सर हिन्दी वैज्ञानिक साहित्य को दुरूह बताया जाता है। दो बातें कही जा सकती हैं: हिन्दी लोचदार, सहज, स्वाभाविक और व्यावहारिक बनने की जगह 'संस्कृतकृत' हुई थी, क्योंकि इसके विकास के लिये सबसे पहले संस्कृत प्रदत्त संभावनाओं का ही अंत तक परीक्षण करना था; दूसरे, जब हिन्दी अपने आंचलिक तथा पुराने रूपों, अन्य भारतीय भाषाओं तथा बोलियों का तेज ग्रहण करने में संकोच छोड़ देगी, तो बात उलट भी सकती है – आयुर में लातीनी-अंग्रेजी शब्द सरल और छोटे नहीं हैं।

5. हिन्दी वैज्ञानिक शब्दों के निर्माण में हिन्दी के आंतरिक नियमों का पूरा प्रयोग हुआ है, पर सामान्य भाषाविज्ञान के नियमों का (जो सभी भाषाओं पर लागू होते हैं) – नहीं के बराबर। इन नियमों की सहायता से एक नियत संभाव्यता के साथ पहले से ही भविष्यवाणी की जा सकती है कि किसी शब्द का उच्चारण कालांतर में किस तरह बदलेगा। इनका उपयोग विदेशी शब्द को नये विदेशज हिन्दी शब्द में परिणत करने के लिये भी हो सकता है।

6. अब हिन्दी के विकास की समस्या कम है, हिन्दी में विज्ञान के विकास की समस्या अधिक है। हिन्दी (विशेषकर वैज्ञानिक शब्दावली) को विज्ञान के विकास का दर्पण और साधन दोनों ही बनना है।

दूसरी ओर, विज्ञान अपने औजार (पारिभाषिक शब्द

भी) स्वयं विकसित करता रहता है, बशर्ते की इन औजारों का उपयोग विज्ञान के विकास में हो।

एक अनुरोध. 7. हिन्दी भाषा आयुर-शब्दावली के निर्माण-चरण से कब के गुजर चुकी है। हिन्दी में आयुरी साहित्य रचा जा रहा है, अनूदित हो रहा है। अब इसे एक नये चरण से गुजरना है, जिसमें शब्दावली की छोटी-मोटी व्यावहारिक कमियां और असुविधाएं दूर की जायेंगी। अनुवादक ने भी इस दिशा में कदम उठाने का प्रयास किया है। यदि पाठक-वृंद अपने सुझाव भेज कर हमारी सहायता करते रहेंगे, तो हमारी सेवाएं और भी अच्छी होती जायेंगी।

एक सूचना. 8. परिशिष्ट में अनुवादक ने सोवियत आयुर-शब्दकोषों के आधार पर चंद अवधारणाएं परिभाषित की हैं, जिन्हें पुस्तक पढ़ने के पहले एक सरसरी निगाह से देख लेना लाभकर होगा।

भूमिका

इस पुस्तक का नाम दूसरी तरह भी रखा जा सकता था। उदाहरण के लिये इस प्रकार: 'चिकित्सा – मेरी जीविका'। ऐसी जीविका के कारण ही यह काम जिसके बारे में मैं लिख रहा हूँ और यह विज्ञान जिसको मेरा जीवन अर्पित है, मेरे जीवन में आ सके।

आयुर के जिस क्षेत्र में मैं काम कर रहा हूँ, पुरानी (यूरोपीय) वैद्यक परंपरा के अनुसार उसका नाम प्राचीन ग्रीक भाषा में रखा गया है – कार्डियोलोगिया। इसका शाब्दिक अर्थ है: हृदय का विज्ञान, हृदलोचन – संस्कृत 'हृद्' (हृदय) तथा 'लोच्' (देखना, निरीक्षण करना) से। इसका जन्म अभी हाल ही में हुआ है। तीस साल पहले जब मैं आयुरी संस्थान में पढ़ रहा था, इस तरह का कोई विषय नहीं था। इसका जन्म हमारे दिनों हुआ है क्योंकि हृत्कुंभी-रोगों की समस्या, जिसका अध्ययन हृदलोचन करता है, विकसित देशों के आयुर में सर्वोपरि स्थान इस वैज्ञानिक व तकनीकी क्रांति के युग में ही प्राप्त कर सकी है। और इसके हल की वास्तविक संभावना भी आधुनिक प्रकृतिविज्ञान की उपलब्धियों से ही उत्पन्न हुई है। विज्ञान अब आदमी और उसके परिवेश के आपसी संबंध की सारी जटिलताओं को देख सकता है। उन परिवर्तनों को

भी, जो मनुष्य अपने कार्य-कलापों से इस दुनिया में ला रहा है, और उन जवाबी प्रभावों को भी, जो यह सतत परिवर्तनशील दुनिया आदमी पर डाल रही है।

मैं यह दिखाना चाहता हूँ कि आयुर इस अदने और साथ ही असाधारण व अथक हृदय को जानने की प्रक्रिया में किन रास्तों से गुजरा है। हृदय की तुलना हम शाश्वत चलित्र से कर सकते हैं। भौतिकी के पाठ्यक्रम से आप जानते हैं कि ऐसा उपकरण बनाना असंभव है, जो एक ही साथ चलित्र का भी काम करे, अपने कार्य के लिये आवश्यक ऊर्जा भी स्वयं उत्पन्न करे, और उसमें कोई ऐसी प्रयुक्ति भी हो, जो ऊर्जा को उसके किसी नियत अंग तक पहुँचाया करे, और वह भी इस तरह, कि चलित्र पर पड़ने वाले बोझ में परिवर्तन के साथ-साथ प्रेष्य ऊर्जा की मात्रा में भी कमोबेश होती रहे। हृदय पर काम का बहुत भारी बोझ रहता है। इसका काम है परस्पर संबद्ध कुंभियों (कूपों और नलिकाओं) के पूरे तंत्र में रक्त का संचार करना; और ये कुंभियां इतनी अधिक हैं कि उन्हें एक कतार में जोड़ने पर कुल लंबाई 40 000 km हो जायेगी ...।

निस्संदेह, शाश्वत चलित्र के साथ हृदय की तुलना सिर्फ एक रूपक है, काव्यात्मक उपमा है। हम शाश्वत नहीं हैं और ऊर्जा के लिये कच्चा माल अपने भीतर नहीं, बाहर से ही प्राप्त करते हैं। पर इतना जरूर है कि पेशी-कोशिकाएं ऊर्जा में उसका रूपांतरण खुद कर लेती हैं तथा उसे खर्च भी खुद करती हैं। और आप जो भी कहें, हृदय सचमुच एक आश्चर्यजनक अंग है जिसकी बनावट लंबे विकास-क्रम में लगातार सुसंगत होती गयी है। जितना अधिक हम इसके बारे में जानते जाते हैं, उतना ही इसके कायल होते हैं। आयुरक इसके बारे में आज सचमुच ही

बहुत ज्यादा ज्ञान प्राप्त कर रहे हैं, जिसका कारण वैज्ञानिक व तकनीकी क्रांति है। इस ज्ञान-प्राप्ति में विशेष भूमिका आण्विक जीवलोचन के विकास की रही है। इसी की सहायता से वैज्ञानिकगण मानवीय कोशिका के भीतर द्रव्य, ऊर्जा और रसायनिक सिग्नलों के वहन या स्थानांतरण की सूक्ष्म से सूक्ष्म शरीरलोचनी तथा जीवरसायनिक प्रक्रियाओं का अर्थ समझ पाये हैं।

आधुनिक आयुर के लगभग हर क्षेत्र की तरह हृदलोचन भी दुहरी प्रकृति रखता है। एक ओर से तो वह प्रायोगिक विज्ञान है जो हृत्कुंभिक तंत्र की संरचना व कार्य, उसके रोगी होने के कारणों व विधानों को चरम शुद्धता से जानने की कोशिश करता है, और दूसरी ओर से वह व्यावहारिक वैद्य-क्रिया का क्षेत्र है: वह रोगों को पहचानने, उन्हें दूर करने तथा उन्हें रोकने की विधियों को विकसित करता रहता है। और मुख्य बात यह है कि इस क्षेत्र में काम करने वाले लोग रोगियों को स्वास्थ्य-लाभ कराते हैं। इसीलिये मेरी जीविका सिर्फ विज्ञान ही नहीं है, वह साथ-साथ वैद्य-कला भी है जिसे वैद्य तथा डाक्टर लोग दसियों पीढ़ियों से विकसित करते आ रहे हैं। वे इसका ज्ञान अपने शिष्यों को सौंपते रहे हैं, और वे फिर अपने शिष्यों को इसका ज्ञान देते रहे हैं। आगे हम इसी के बारे में बातें करेंगे।

भावी सहकर्मियों से

शुरूआत ऐसी बात से कर रहा हूँ, जिसे सभी जानते हैं: जन्म से न तो कोई इंजीनियर होता है, न डाक्टर, न शिक्षक और न वैज्ञानिक ही; यह सब बाद में धीरे-धीरे बनते हैं। बनते हैं शिक्षा-दीक्षा से और खुद की कठिन मिहनत से। बनते

हैं विज्ञान के अध्ययन से, अपनी भावी जीविका के आत्मसातन से। क्योंकि कोई भी जीविका सिर्फ दस से पाँच तक काम करना ही नहीं है। वह भाग्य की चीज है।

यदि वह सचमुच गंभीरता के साथ चुनी गयी है तो वह सारी जिंदगी के लिये आदमी की मुख्य रुचियां, यहां तक कि उसके सोचने और जीने का ढर्रा भी, निश्चित कर देती है। डाक्टर, इंजीनियर, चित्रकार आदि की जीवन-प्रणालियां सचमुच भिन्न होती हैं। अपनी जीविका के प्रति गहरी अनुरक्ति होनी चाहिये, सिर्फ तभी आयुर – मैं इसी के बारे में बातें करूंगा, – अध्ययन करने की कठिनाइयां पार की जा सकती हैं, सिर्फ तभी डाक्टर के कठिन श्रम से भरा जीवन बिताया जा सकता है। आप जानते हैं कि डाक्टर भी एक सैनिक की तरह शपथ ग्रहण करता है। वह प्रतिज्ञा करता है कि वह हर आदमी की, जिसे जरूरत पड़ेगी, हर परिस्थिति में सहायता करेगा और इसके लिये सब कुछ निछावर कर देगा। लोग किसी निश्चित कार्यक्रम के अनुसार बीमार नहीं पड़ते, उन्हें सहायता की जरूरत किसी भी वक्त पड़ सकती है। अस्पताल में चौबीस घंटे. ड्युटी बजाना कठिन होता है, पर यह जरूरी है। अक्सर ऐसा होता है कि ड्युटी खत्म हो जाती है, घर में आपकी प्रतीक्षा हो रही है या जेब में थियेटर की टिकट पड़ी है, लेकिन आप रोगी को छोड़ कर हट नहीं सकते, टेलीफोन करने के लिये भी नहीं। कहीं भी कोई दुर्घटना हो जाये, कोई अचानक बीमार हो जाये – सड़क पर, घर में या जंगल में, दिन में या रात में, धूप में या वर्षा में, – यदि आप डाक्टर हैं, आपको अपना कर्त्तव्य निभाना ही चाहिये, हर संभव उपाय करना चाहिये कि बीमार को सहायता मिले, दुर्घटनाग्रस्त की जीवन-रक्षा हो। यहां तक

कि यदि आप खुद बिमार हैं, लेकिन पैरों पर खड़ा रह सकते हैं तो अपना कर्त्तव्य पूरा करें, सहायता पहुंचायें! यह हमारी जीविका की आचार-संहिता है, अंतरात्मा की आवाज है, हमारे राज्य का कानून है। ऐसे जीवन के लिये नैतिक रूप से तैयार होना चाहिये। तभी तो तीन सौ साल पहले जब अंग्रेज डाक्टर थोमस सीडेन्हेम से पूछा गया कि डाक्टरी पेशे में सफलता का असली रहस्य किस किताब में मिल सकता है, तो उन्होंने जवाब दिया: "दोन किखोत पढ़ो, मेरे दोस्त!*"

मैंने कई ऐसे युवकों को देखा है, जो माता-पिता की प्यार भरी कोशिशों से किसी न किसी संस्थान में भरती हो जाते हैं; डाक्टरी में या तकनीकी में – यह महत्त्वपूर्ण नहीं है, महत्त्वपूर्ण है कि वे अपने चयन से, अपनी इच्छा से भरती नहीं होते। परिणाम अक्सर दुखद होता है! या तो वे आधे रास्ते में ही पढ़ाई छोड़ देते हैं या पढ़ाई खत्म करने के बाद वे लोगों के भाग्य तथा अपने काम के प्रति उदासीन निकलते हैं, उनका एक ही सपना होता है – कोई ऐसी जगह मिले, जहां पैसे अधिक हों और सोचना कम पड़े। क्या आप ऐसे डाक्टर से इलाज करवा-ना पसंद करेंगे? मैं – नहीं।

यह जरूर है कि आयुर के प्रति आकर्षित व्यक्तियों की उसमें रुचि अलग-अलग तरह से जगा करती है। कुछ उदाहरण तो अमर हो चुके हैं। महान करोर्जक निकोलाई पिरोगोव सात

---

* स्पेन के लेखक मिगेल सेर्वांतेस (1605) के उपन्याम "लामांछा के चपलचतुर इदाल्गो दोन किखोत" का नायक। दोन किखोत अब ऐसे व्यक्तियों को कहते लगे हैं जिनका दयालु हृदय परभलाई के लिये यामिक वास्तविकता से टक्कर लेने को सदा तत्पर रहता है। – अनु.

वर्ष की उम्र से सिर्फ एक खेल खेला करते थे – "डाक्टर मूखिन का"। डाक्टर मूखिन मास्को में पिछली शती के एक विख्यात करोर्जक थे, जिन्होंने निकोलाई पिरोगोव के भाई की जान बचायी थी। मेरे अनेक सहकर्मी भी, जो सही माने में आधुनिक डाक्टर हैं, यही कहेंगे कि आयुर की ओर वे किसी अच्छे (विख्यात या अविख्यात) डाक्टर के प्रति प्रेम के कारण ही आकर्षित हुए हैं।

कुछ लोगों के लिये पुस्तकें प्रेरक सिद्ध हुई हैं। इवान पाव्लोव के कथनानुसार चौदह-पंद्रह वर्ष की उम्र में वे जार्ज ल्युइस (Lewis) की एक ललित विज्ञान पुस्तक "दैनंदिन शरीरलोचन" से इतने प्रभावित हुए कि इसके बाद वे मानव-शरीर के रहस्यों के उद्घाटन को छोड़ कर किसी और काम में लगने की कल्पना भी नहीं कर पाते थे।

फिर भी जब कोई कहता है कि अमुक विख्यात आदमी बचपन से ही इंजीनियर, डाक्टर या अभिनेता बनने के सपने देखा करता था और इसीलिये उसका भविष्य पहले से निश्चित हो गया था, तो मुझे यह बात पूरी तरह से सच नहीं लगती; इसे सिर्फ सच का रूप मिल जाता है, क्योंकि परिणाम तो सामने आ चुका है। बचपन के सपने और बड़ा आदमी बनने के बीच अनेकानेक जीवन-परिस्थितियों, घटनाओं, मानसिक छापों और लोगों की लरी होती है जो मेरे खयाल में कहीं अधिक गंभीर भूमिका निभाती है। पिरोगोव का बचपन सिर्फ 'डाक्टर मूखिन के खेल' में नहीं बीता था। वे अपने संस्मरण में लिखते हैं कि उनके माता-पिता के दो मित्र कितनी गंभीरता से उन्हें पढ़ाते थे। दोनों में से एक ने खेल-खेल में पिरोगोव को लातीनी सिखा दी, जो आयुर की भाषा है, और फिर जड़ी-बूटियों के बारे

में एक किताब भेंट की जिसमें दवा के काम आने वाले वनस्पतियों का बखान था। किताब चिकित्सकों के लिये थी, पर किशोर पिरोगोव को वह बहुत पसंद थी। वे औषधलोचन की इस पाठ्य-पुस्तक को विश्वविद्यालय में भरती होने के पहले ही कंठस्थ कर चुके थे। भरती हुए थे वे चौदह वर्ष की उम्र में। और पाव्लोव ऐसे किशोरों के साथ बड़े हुए थे, जो जनता की सेवा के सपने देखते थे। उनके कथनानुसार वे और उनके मित्र तब के ज्वलंत निबंधकार द्मीत्री पीसारेव के विचारों से प्रभावित थे, जो 'सृजनात्मक प्रकृतिविज्ञान' को जीवन अर्पित करने के लिये रूसी तरुणवर्ग का आह्वान कर रहे थे। पीसारेव मानते थे कि प्रगति का मूल प्रकृतिविज्ञान ही है; शरीरलोचन का वे विशेष रूप से प्रचार करते थे और अपने निबंधों में उन्होंने पुस्तकों की एक सूची भी दी थी, जिन्हें वैज्ञानिक बनने की तैयारी करने वाले हर 'यथार्थवादी' को जरूर ही पढ़ना चाहिये था। भावी जीविका की तैयारी के लिये बनाये गये इस 'कार्यक्रम' को किशोर पाव्लोव ने लगन के साथ कुछेक वर्षों में पूरा कर लिया।

जीवन-पथ का चयन परिवेश के प्रभाव से और साथ ही आत्मविकास हेतु श्रम के फलस्वरूप धीरे-धीरे परिपक्व होता है। आश्चर्य नहीं कि डाक्टरों के बच्चे आयुर-विज्ञानों को आत्मसात करने तथा खुद डाक्टरी की कठिनाइयों से जूझने के लिये नैतिक रूप से अपने हमउम्रों की तुलना में अधिक तैयार होते हैं। इसका कारण बहुत सीधा है: वे बचपन से ही डाक्टर के जीवन के आदी हो जाते हैं, उसके व्यावसायिक आचार के मानकों को समझने लगते हैं, यहां तक कि माता-पिता, भाइयों और बहनों की बातचीत से डाक्टरी के विशेष ज्ञान और काम की भी जान-कारी प्राप्त करने लगते हैं। इस तरह विरासती जीविका का

जन्म होता है, जिसके बारे में आजकल सभी बातें करते हैं। वैसे, मजदूर, किसान, शिक्षक या किसी भी अन्य जीविका वाले लोगों के बच्चे भी बहुत अच्छे डाक्टर होते हैं। मुख्य बात यह है कि लगन होनी चाहिये, काम के लिये बलिदान की भावना होनी चाहिये।

लेकिन इस बात में कि मैं डाक्टर बना, मेरे जीवन के आदर्शों और सिद्धांतों के विकास में भी, मुख्य भूमिका मेरी माँ आलेक्सांद्रा इलीनीच्ना की रही है। वह चिकित्सक थी, जो मैं आगे चल कर बना। लेकिन सबसे बड़ी बात थी कि उसे जीवन का बहुत विस्तृत अनुभव था। माँ उराल क्षेत्र के प्रथम कोमसो-मोलों में से थी। लगभग बालावस्था में ही वह गृह-युद्ध में भाग ले चुकी थी। उसे सफेद गार्डों ने पकड़ लिया था। कोल्चाक के न्यायालय ने उसे गोली मारने का फैसला दिया था, पर वह किसी तरह बच गयी। वयस्कावस्था में वह छात्र बनी। आयुर-संस्थान की पढ़ाई समाप्त की। छोटे अस्पतालों में काम किया, फिर वह बड़े तल्पालयों में गयी। कुछ समय बाद चिकित्सा-विभाग में छात्रों को डाक्टरी कला का ज्ञान देने लगी। वह नम्र, ईमानदार और निष्ठावान थी। उसमें न तो स्वार्थ था, न कोई महत्त्वाकांक्षा ही। बीमार की देख-भाल उसके लिये पुनीत कर्तव्य था। खुद डाक्टरी उसके लिये पवित्र जीविका थी, जिसे वह निस्स्वार्थ भाव से अर्पित थी। मेरे लिये माँ आज भी उस यशस्वी संतति का प्रतीक है, जिसने क्रांति की, सोवियत सत्ता का निर्माण किया। मैं उसके साये में बड़ा हुआ हूँ और बचपन से देखता रहा हूँ कि डाक्टर का काम कितना कठिन है।

खासकर तोन्शायेवा गाँव का जीवन मेरी याददाश्त पर गहरी छाप छोड़ गया है, हालाँकि तब से 45 वर्ष बीत चुके हैं। यह

2-456

गाँव गोर्की जिले के बिल्कुल उत्तर पीज्मा नदी और उसकी सहायक व्यात्का नदी के संगम पर है। माँ वहां छोटे-से अस्पताल में काम करती थी। वहां वह एकमात्र डाक्टर थी, उसे एक साथ दसियों विशेषज्ञों का काम करना पड़ता था। वह चिकित्सक थी, साथ ही उसे करोर्जक, बालचिकित्सक, नेत्रविद, नर्वरोग-लोचक, प्रसूतक, कर्णग्रसनीलोचक और जनमारीलोचक आदि का भी – जब जिसकी जरूरत पड़े – दिन-रात का खयाल किये बिना काम करना पड़ता था। शरीर के लिये भी यह कठिन कार्य था। और कितनी चिंता करनी पड़ती थी, जब उसे कोई खास निर्णय लेना पड़ता था – रोगी की साँस अटकी हुई है और कोई सलाह देने वाला अनुभवी व्यक्ति नहीं है! ... लेकिन उसका कितना आदर होता था, लोग कितनी आशा से उसके पास आते थे, जैसे बिल्कुल सगे आदमी के पास! ...

मैं यह नहीं कह सकता कि उस समय बचपन में आयुर के प्रति मुझमें जो आकर्षण उत्पन्न हुआ, मैं उसके जो सपने देखने लगा, वह सच्चा और गंभीर था। पर उसके महत्त्व को, लोगों के लिये उसकी अनिवार्यता को मैं महसूस करने लगा था। आयुर के प्रति पहली दिलचस्पी मुझमें उसी समय जगी थी। अनेक वर्ष बीतने के बाद मुझे विख्यात फ्रांसीसी लेखक आंद्रे मरूआ का भाषण पढ़ने को मिला, जो 1967 में फ़्रांसीसी डाक्टरों के अधिवेशन में दिया गया था: "उपन्यास-लेखक को छोड़ कर और कौन उन लोगों का भावोद्गार समझेगा, जो किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो कर रोगी को घेरे हुए हैं और उन्हें पता नहीं है कि क्या किया जाये; तभी द्वार पर डाक्टर आता दिखाई देता है। उसकी दृष्टि ही रोगनाशक होती है। कितनी बार सुदूर गाँवों में अंधेरी रात को जब खिड़कियों में कोई प्रकाश नहीं

दिखता, मैंने देखा है कि दूर से मोटर आने की आवाज सुनते ही लोगों के चेहरों पर आशा का दीप जगमगा उठता है। डाक्टर आ रहे हैं! खुद बीमार भी कराहना बंद कर मोटर की आवाज सुनने लगता है, थर्मामीटर का ऊपर चढ़ता हुआ पारा भी मानो प्रतीक्षा में थम जाता है।"

हो सकता है कि ये शब्द कुछ ज्यादा ही खूबसूरत हैं पर आयुर के बारे में मेरी पहली धारणा के साथ पूरी तरह मेल खाते हैं।

स्कूल खतम करते वक्त मैं तरह-तरह की योजनाएं बना रहा था: कभी भूतत्त्व विभाग में पढ़ने की इच्छा होती थी, तो कभी रेडियोलोकेशन-विभाग में। लेकिन माँ कीएव आयुर-संस्थान के थेरापिक तल्पालय में सहायिका के पद पर थी और वह हमेशा अपने साथ काम करने वाले उत्कृष्ट डाक्टरों के बारे में मुझे बताती रहती थी। उनमें से कुछ तो हमारे राष्ट्रीय आयुर के सच्चे अग्रणी थे, जैसे निकोलाई स्त्राझेस्को, जिनकी गणना प्रथम रूसी हृदलोचकों में होती है, और माक्स गुबेरग्रित्स, जो हमारे प्रथम जठरांत्रलोचकों में से एक हैं। वह प्रतिभाशाली निदानकों के बारे में बताती थी, जो जटिल से जटिल स्थितियों में भी खूबसूरती के साथ रास्ता निकाल लेते थे। मैं देखता था कि माँ अपने काम को सिर्फ प्यार ही नहीं करती थी, उसे आवश्यक और महत्त्वपूर्ण ही नहीं मानती थी, वह आयुर में काम करने वालों पर गौरव भी करती थी।

...आपको याद होगा कि तोल्स्तोय की कृति 'युद्ध और शांति' के कुछ अध्यायों में नताशा की बीमारी और उन डाक्टरों का वर्णन है, जो "अकेले और झुंडों में आया करते थे, फ़्रांसीसी, जर्मन और लातीनी में बोला करते थे"। तोल्स्तोय व्यंग्य के साथ

एक बुद्धिमान विचार प्रस्तुत करते हैं कि नताशा को डाक्टरों से लाभ इसलिये नहीं था कि वे "रोगिणी को ज्यादातर हानि-कारक पदार्थ" ही निगलने को दिया करते थे, बल्कि यह कि वे सहानुभूति, कर्मठता और ठीक होने की आशा जैसी चिरंतन मानवीय आवश्यकताओं को संतुष्ट करते थे। आगे तोल्स्तोय कुछ ज्यादा ही कड़वे व्यंग्य के साथ कहते हैं कि काउंट रोस्तोव अपनी बेटी का रोग पता नहीं कैसे सहन करते, यदि उन्हें यह नहीं मालूम होता कि इलाज पर कितने पैसे खर्च हो चुके हैं, तथा और भी कितने हजार खर्च करने को तैयार हैं, और यदि – यह सबसे बड़ी बात है – उन्हें सबको सुनाने का मौका नहीं मिलता कि कितने विख्यात डाक्टर नताशा का इलाज कर रहे हैं: 'मेतिविये और फेलेर ने तो समझा ही नहीं, फ्रीस समझ गया, और मुद्रोव ने और भी सही रोग बताया'। इस कृति में ऐतिहासिक विवरण बिल्कुल सही है और तोल्स्तोय ने उस समय मास्को में काम करने वाले वास्तविक डाक्टरों का नाम दिया है। जब मैं यह उपन्यास पढ़ रहा था, तो काउंट रोस्तोव के व्यवहार पर तोल्स्तोय के व्यंग्य की तुलना में डा. मुद्रोव के प्रति मेरी रुचि कम नहीं जगी, जिसने सबसे ठीक रोग बताया था। उस समय मेधावी रूसी आयुरकों के बारे में कम ही लिखा जाता था, पर मेरा भाग्य अच्छा था – मुझे मास्को थेरापिक स्कूल के संस्थापक मात्वेई मुद्रोव के बारे में एक ललित विज्ञान-पुस्तक मिल गयी। यह प्रो. व्ला. स्मोत्रोव द्वारा लिखी गयी थी, जो लेखक नहीं, डाक्टर थे, इसीलिये उन्होंने वैज्ञानिक पक्ष पर विशेष ध्यान दिया था कि मुद्रोव का चिकित्सा-कला में क्या योगदान रहा है। उनका योगदान, विश्वास कीजिये, कम नहीं रहा है। लेकिन मैं सबसे अधिक उनके व्यक्तित्व से, विज्ञान,

आयुर और रोगियों के प्रति उनकी निष्ठा से प्रभावित हुआ था। उनकी दयालुता सचमुच निस्स्वार्थ थी।

जब मुद्रोव विद्यार्थी थे, उन्होंने एक बार शीतला (बड़ी चेचक) से ग्रस्त एक लड़की की देखभाल का जिम्मा लिया। हम लोगों के बीच तो अब शायद ही कोई व्यक्ति होगा, जो इस रोग से गुजरा हो – इसका उन्मूलन हो चुका है। लेकिन मैंने अपनी किशोरावस्था में देखा था। शीतला में त्वचा पर फुंसियां निकल आती हैं, जिन्हें दाने कहते हैं; इनमें एक द्रव भरा होता है जिसके कारण असह्य खुजली होती है और रोगी परेशान होकर फुंसियों को नोचने लगता है। इस बीमारी से जो बच जाते हैं, उनके चेहरे तथा शरीर के अन्य भागों पर छोटे-छोटे गहरे गड्ढ़े बने रह जाते हैं। ये शीतला के दाग हैं। अपनी रोगिणी की पीड़ा कम करने के लिये और इसलिये कि रोग के बदसूरत दाग न रह जायें, मुद्रोव फुंसियों को लैंसेट से चीरते थे और उसका द्रव एक विशेष स्पंज से निकाल लेते थे। यद्यपि वे जानते थे कि वे अपना जीवन खतरे में डाल रहे हैं क्योंकि छूत वाली चीज इसी द्रव में होती है!

1812 के युद्ध में जब नेपोलियन की सेना मास्को में प्रविष्ट होने वाली थी, मुद्रोव को अपने परिवार के साथ शहर छोड़ना पड़ा। ऐसी परिस्थिति में सारा सामान लेकर जाना संभव नहीं था। हर आदमी अपने साथ वही चीज ले जा रहा था, जो उसके लिये सबसे अधिक मूल्यवान थी। मुद्रोव ने भी अपनी सबसे बहुमूल्य वस्तु अपने साथ ले ली – हजारों लोगों के संक्षिप्त रोग-वृत्त, जिनका उन्होंने इलाज किया था। यह उनका वैद्यक अनुभव था, निदान और चिकित्सा का अनुभव था।... उनकी मृत्यु भी हुई, तो डाक्टर की तरह ही: हैजे से। यह जनमारी 1831 में

पीटरबुर्ग नगर में फैली हुई थी और मुद्रोव उसके साथ संघर्ष का नेतृत्व कर रहे थे।

...फिर भी, इतना पढ़ने और सुनने के बाद भी कीएव आयुर-संस्थान में भरती होते वक्त मुझे ज्यादा स्पष्ट अंदाज नहीं था कि यहां पढ़ाई होने वाले विज्ञान कितने जटिल हैं और विशेषज्ञता प्राप्त करने के लिये छात्र को या डिग्री प्राप्त डाक्टर को कितनी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, बेशक यदि उसका लक्ष्य सच्चा डाक्टर बनने का है, न कि सिर्फ ठंडा व्यवसा-यी बनने का।

चूँकि आप में से कुछ लोग डाक्टर बनने का इरादा रख सकते हैं, इसलिये कम से कम इतना जरूर बता दूँ कि आयुर-संस्थान में प्रवेश लेने के बाद किन कठिनाइयों से सामना होता है। पहली कठिनाई अनाटोमी (शरीर-रचना विज्ञान) का अध्ययन है, जो आयुर के छात्र की कार्यक्षमता और याददाश्त के साथ-साथ उसकी कर्मठता की भी परीक्षा माना जा सकता है। मुझे विश्वास नहीं होता कि उच्च तकनीकी शिक्षा-संस्थानों में इसके जैसा कठिन और नीरस कोई दूसरा विषय भी है। डाक्टर बनने की इच्छा रखने वाले को कपाल, रीढ़, पसलियों, हाथ-पैर की हड्डियों के उत्वर्धों, उभारों और खाँचों के हजारों लातीनी नामों को हमेशा के लिये कंठस्थ करना पड़ता है। उसे हर पेशी, कुंभी और नर्व का नाम याद रखना पड़ता है। हड्डी के किस उभार से कौनसी पेशी शुरू होती है, किस उत्सेध पर जड़ी होती है, कौनसी कुंभी या नर्व किस जगह होती है, किस जगह विशाखित होती है, इन बातों के साथ-साथ अनेक अन्य बातें भी याद रखनी चाहिये, जैसे – धमनी की कौनसी शाखा किस पेशी या किस अंग का पोषण करती है, किन नर्व-शाखाओं से होकर

उद्दीपन गुजरता है और किस अंग को काम पर तैनात करता है। इन पेशियों, कुंभियों और नर्व-शाखाओं को शव में से अलग करना पड़ता है – यह काम सरल नहीं है और ऊपर से विभत्स भी है। बात और जटिल हो जाती है, इसलिये कि आयुर की भाषा लातीनी है! लातीनी को अनाटोमी के साथ-साथ ही पढ़ाना शुरू करते हैं। और जबतक छात्र अच्छी तरह से इस भाषा को नहीं जान लेता, उसे ढेर सारे दुर्बोध शब्द यूँ ही रटने पड़ते हैं। बाद में यह काम आसान हो जाता है। पता चलता है कि किसी पेशी का भारी-भरकम नाम सिर्फ यही बताता है कि वह क्या करती है: "मुस्कुली फ्लेक्सोरेस पोलीसिस, लोंगुस एत ब्रेविस" का अर्थ हुआ "पेशियां, बड़ी उंगली को मोड़ने वाली, लंबी और छोटी"। फिर तो यंत्रवत रटने की क्रिया में धीरे-धीरे तर्क की सहायता मिलने लगती है। इसी तर्क को तो हर चीज में ढूँढ़ना चाहिये।

आयुर का अध्ययन कई तरह से संभव है। आप लगन से पाठ रट सकते हैं, सुंदरता के साथ लेक्चर नोट कर सकते हैं, प्रथम श्रेणी भी प्राप्त कर सकते हैं, पर इसके बावजूद यह जरूरी नहीं है कि आप अच्छे डाक्टर बन जायेंगे। स्वतंत्र चिंतन तथा विश्लेषण के प्रति विशेष लगाव के बिना सच्चा डाक्टर नहीं बना जा सकता।

आयुर में कठिन विषयों की भरमार है। इनके लिये अनेकानेक तथ्यात्मक सूचनाओं को कंठस्थ करने की आवश्यकता पड़ती है, यथा – शरीर के ऊतकों और कोशिकाओं की सामान्य संरचना, उनके सूक्ष्मदर्शी भेद, उनमें चलने वाली जीवरसायनिक प्रक्रियाएं (बहुचरणी रूपांतरणों की लंबी लरी!), विचाराधीन रोगों

की विकास-प्रणाली और ऊतकों तथा कोशिकाओं में उनके कारण होने वाले सूक्ष्मदर्शी परिवर्तन ...

मेरे लिये पढ़ाई कठिन नहीं थी, और रटने के बारे में तो मैं कभी सोचता भी नहीं था। मुझे जानने की इच्छा थी, समझने की इच्छा थी, हर विषय में कोई विकास, कोई नाटकीयता देखने की इच्छा थी। वैसे, प्राध्यापकों की भी नियमतः यही चेष्टा रहती है कि वे नीरस तथ्यों का ज्ञान रोचक घटनाओं, विचार-संघर्षों तथा विज्ञान के जन्मदाताओं की जीवनी के साथ दिया करें।

विज्ञान के रूप में मानव-अनाटोमी का जन्म 400 वर्ष पूर्व हुआ था। इसके सृष्टा विख्यात फ्लेमिश कर्रोजक आंद्रेयास वेजा-लियस थे। उन्होंने ही अपना जीवन खतरे में डालकर पहले-पहल छिपे रुस्तम शव की चीरफाड़ द्वारा मानव-शरीर पर इसका अध्ययन शुरू किया था। मानव-शरीर की चीरफाड़ पर प्राचीन रोम के समय से ही रोक लगा हुआ था और मध्य युगीन चर्च इस काम के लिये जिंदा जलाने की सजा देता था। अनाटोमी का अध्ययन लोग सिर्फ जानवरों पर किया करते थे। लंबी अवधि तक खोज और मनन के बाद अंत में वेजालियस ने सात खंडों में अपनी कृति प्रकाशित की: "De corporis humani fabrica" –'मानव शरीर की रचना', जिसमें उन्होंने हमारे शरीर की पूर्णता दिखायी थी।

चर्च के धर्माधिकारियों ने उन्हें पकड़कर मौत की सजा सुना दी। वे राजा के व्यक्तिगत डाक्टर थे, इसीलिये राजा के हस्तक्षेप से बच गये, लेकिन बहुत दिनों के लिये नहीं। मौत की सजा के बदले उन्हें जबरन तीर्थ-यात्रा पर जाना पड़ा, और जिस जहाज में वे जा रहे थे वह तूफान में नष्ट हो गया। समुद्री थपेड़ों ने
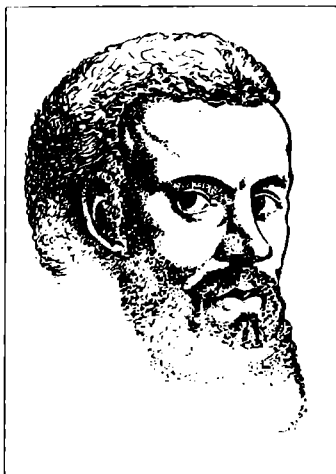
आंद्रेयास वेजालियस

उन्हें एक छोटे से द्वीप पर फेंक दिया, जहां इस महान अन्वेषक और अनाटोमक की मृत्यु हो गयी।

और उनका अनुसरण करने वाले कितने थे – हालैंडवासी, इतालवी, अंग्रेज, जर्मन, फ्रांसीसी, रूसी! ये शरीर की संरचना का अध्ययन करने के लिये नयी-नयी विधियों और प्रयुक्तियों की खोज करते गये। उदाहरण के लिये, रक्तवाही कुंभियां कैसे-कैसे शाखाओं में बँटती जाती हैं, यह निर्धारित करने के लिये उनमें रंग प्रविष्ट कराया; अनाटोमी में अनेक सच्ची खोजें कीं। लेकिन आने वाली संततियों के लिये भी खोज करने को बहुत कुछ बचा रहा। पिछली शती में निकोलाई पिरोगोव ने एक बिल्कुल नये विषय को जन्म दिया – करोर्जिक अनाटोमी को (जिसे अब स्थलारेखी अनाटोमी कहने लगे हैं)। यह पेशियों, कुंभियों, नर्व-शाखाओं आदि की उस पारस्परिक स्थिति का वर्णन करती

है, जो आपरेशन करते वक्त डाक्टर को दिखेगी। करोर्जक को यह जरूर ही जानना चाहिये कि हाथ, पैर, छाती या गरदन पर वह जिस त्वचा को छूरी से चीरना चाहता है, उसके नीचे क्या-क्या अंग होते हैं। उसे पहले से पता होना चाहिये कि किस स्थल पर शिरा या धमनी है, क्योंकि इन्हें चोट पहुँचना रोगी के लिये घातक होता है। ये बातें जानना करोर्जक के लिये ही नहीं, किसी भी डाक्टर के लिये आवश्यक है। अब तो हृत्कुंभी-रोगों की चिकित्सा करने वाले हम थेरापक भी ऐसी विधियों का उपयोग करते हैं, जो करोर्जिक आपरेशनों की तरह ही होती हैं: चौड़ी धमनियों में जोंड प्रविष्ट कराते हैं और इन पतली नलिकाओं को कुंभियों में खिसकाते हुए हृदय तक पहुँचाते हैं ताकि ठीक रोग-ग्रस्त स्थल पर दवा दी जा सके, या कोई ऐसा द्रव्य पहुँचाया जा सके जिसकी सहायता से एक्सरे-उपकरण के पर्दे पर देखा जा सके कि हृद्य कुंभियों में क्या परिवर्तन हुए हैं।

खुद सोचिये – कोई 40 वर्ष पहले ही पता चला कि अनाटोमी-विद अपने विज्ञान के चार सौ वर्ष लंबे जीवन के दौरान फुप्फुस की अनाटोमी सही-सही नहीं जानते थे, जिसे नंगी आँखों से देखा जा सकता है, हाथों से छूआ जा सकता है! रूसी में एक कहावत है: "आँखों का विश्वास मत करो!" यदि बाहर से देखा जाये तो आँख से दिखता है कि दायां फुप्फुस स्पष्ट खाँचों द्वारा तीन वृहत भागों में बँटा है और बायां – दो भागों में। चौथे दशक के अंत में महायुद्ध से पूर्व करोर्जकगण फुप्फुस के आपरेशन का प्रयत्न करने लगे – अर्बुद, यक्ष्मा या किसी अन्य रोग से ग्रस्त भाग को दूर करने के लिये। इस काम में अप्रत्याशित जटिलताएं उत्पन्न होने लगीं। तब मास्को के करोर्जक बोरीस

लिनबेर्ग ने इस स्पष्ट और सर्वज्ञात विषय पर संदेह किया। उन्होंने अनुमान लगाया कि असफलता का कारण है: इस अंग की वास्तविक बनावट का ज्ञान नहीं होना। याद रखें कि सच्चे वैज्ञानिक की विशेषता यही है – उस बात पर संदेह करना, जो सबके लिये स्पष्ट और सर्वविदित है!

लिनबेर्ग ने एक बड़ी चतुर विधि का उपयोग किया, जिससे फुप्फुस की बनावट का 'भीतर से' अन्वीक्षण संभव हुआ। उन्होंने शव से निकाले हुए फुप्फुस की रक्तवाही कुंभियों और 'श्वसनी-वृक्ष' में द्रव प्लास्टिक पंपित किया। यह 'वृक्ष' ही फुप्फुस का आधार है और इसे वायुवाहक नलियों का जाल भी कह सकते हैं। कुरकुरी (मुलायम पतली हड्डी) की बनी वायु-वाहक नलियां क्रमशः पतली और महीन, सूक्ष्म शाखाओं में बँटती जाती हैं। अंत में वे करोड़ों सूक्ष्मदर्शी नलियों में विभक्त हो जाती हैं, जो कटोरियों से घिरी होती हैं; कटोरियां कोशि-कीय कुंभियों से गुँथे हुए पतले ऊतकों से बनी होती हैं। पहले अनाटोमीविद जब फुप्फुस के भागों को अलग करते थे, वे सिर्फ अपेक्षाकृत बड़ी श्वसनियों को ही अलग कर पाते थे; उन्हें पूरा चित्र नहीं मिलता था। फुप्फुस की व्यौम संरचना कैसी है, उसमें क्या और कहां है, यह सब अनुमान पर ही आधारित था। लिनबेर्ग ने शुद्ध तथ्य प्राप्त किये। जब प्लास्टिक जमकर ठोस हो जाता था, लिनबेर्ग फुप्फुस को कड़े अम्ल में डाल देते थे। ऊतकों के पूरी तरह से गल जाने पर वैज्ञानिक को 'श्वसनी-वृक्ष' का छाप मिल जाता, जिसमें सभी शाखाएं और उनमें गुजरने वाली रक्तवाही कुंभियां वैसी ही होती थीं, जैसी अक्षत फुप्फुस में। दसियों छाप इस बात के गवाह थे कि प्रत्येक फुप्फुस दो या तीन नहीं, चार भागों में विभाजित रहता है। हर भाग

निश्चित नियमितता के साथ और भी छोटे प्रभागों में बँटता चला जाता है। करोर्जकों को अब स्पष्ट हो गया : किस स्थल पर कुंभियों को बांधना, श्वसनी की शाखाओं को काटना या जोड़ना अच्छा रहेगा, ताकि रोग-ग्रस्त भाग के विछेदन के बाद घाव भर जाये और फुप्फुस अपना काम करने लगे। निस्संदेह रोगी के सफल आपरेशन में इस नये ज्ञान का उपयोग पहले-पहल लिनबेर्ग ने ही किया। हमारे देश में फुप्फुस के करोर्जन का आरंभ कराने वाले इस वैज्ञानिक को कुछ ही वर्षों में लेनिन पुरस्कार से सम्मानित किया गया। उन्होंने जो विधि बतायी, उसका अनेक सोवियत अनाटोमकों ने भिन्न अंगों – गुर्दों, कलेजी, हृदय की गहराइयों – में कुंभियों की स्थितियों के अध्ययन में सफलतापूर्वक उपयोग किया। प्राप्त तथ्य आगे चलकर हृदलोचन के लिये भी लाभकर सिद्ध हुए।

विज्ञान, यह सभी जानते हैं, किसी एक जगह खड़ा नहीं रहता। अभी आयुरकों के पास ऐसी विधियां हैं, जिनकी सहायता से वे जीवित आदमी की – जरूरत पड़ने पर किसी भी निश्चित रोगी की – कुंभियों की स्थिति और अवस्था ज्ञात कर सकते हैं; इस प्रक्रिया में रोगी को कोई कष्ट भी नहीं होता। पर ऊपर जिस खोज के बारे में बताया गया है, उसे आयुर के इतिहास में अपना सुनिश्चित स्थान प्राप्त है। छात्र-जीवन में जब मुझे अनाटोमी जैसे शुष्क विषय का अध्ययन करना पड़ रहा था, मैं हमेशा महसूस करता था कि उसका विकास कैसे हुआ है, कैसे और किसलिये उसकी खोजें हुई हैं, इसीलिये मैं इसे सरलतापूर्वक आत्मसात कर पाता था। लेकिन मुख्य बात यह है कि वह आज भी मानव-शरीर की बनावट संबंधी नये-नये विवरणों की खोज करता जा रहा है।

और सचमुच, जितना ही अधिक इसके बारे में हम जानते जाते हैं, उसकी बनावट की पूर्णता, उसमें होने वाली जीवरसायनिक तथा शरीरलोचनी प्रक्रियाओं की सुडौलता और उसकी जीवन-क्रिया की बहुरूपता पर हमारा ज्ञान जितना ही अधिक होता जाता है, हमें उतना ही अधिक आश्चर्य होता है। इसके अंगों के कार्यों के बीच अनोखा समन्वय है। इसके सभी अंगों, भागों, तंत्रों, उपतंत्रों के बीच नपा-तुला संबंध है। इसकी आंतरिक सुसंगति बनाये रखने वाली संचालन-प्रक्रियाओं की सुचारुता हमारी बुद्धि को विशेष तौर पर प्रभावित करती है।

इसीलिये तो पिछली शती के उत्तरार्ध से (जब शरीरलोचन इतना परिपक्व हो गया कि अत्यधिक विकसित जंतुओं की जीवन-क्रिया का ज्ञान प्राप्त करने के लिये यथार्थ रास्ते ढूंढ़े जा सकें, और इसके कारण वह प्रयोगात्मक आयुर की शाखा में परिणत हो सका) विश्व के अच्छे से अच्छे वैज्ञानिकों ने तुरंत ही शरीर में संचालन-प्रक्रिया के तत्त्वों, इन प्रक्रियाओं में गड़बड़ी के कारणों और इसके संभव परिणामों की छान-बीन और खोज पर अपना ध्यान केंद्रित किया। हम गर्व कर सकते हैं कि शरीर-लोचन की इस दिशा में महत्त्वपूर्ण खोजें हमारे अपने देश के प्रकृति-साधकों ने की हैं।

हमारे अध्ययन के लिये विशेष महत्त्वपूर्ण है कि इ० पाव्लोव तथा अ० समोइलोव ने क्या खोजें की हैं। इनके द्वारा प्राप्त ज्ञान हृदलोचन ही नहीं, पूरे आधुनिक आयुर की नींव है।

विकास की मंजिलें

आप शरीरलोचन के स्कूली पाठक्रम से जानते हैं कि इवान पाव्लोव, उनके शिष्यों तथा सहकर्मियों ने नर्व-तंत्र को शरीर के सभी अंगों की जीवन-क्रिया का नियामक मानकर वर्षों तक उसके अन्वीक्षण पर अपना ध्यान केंद्रित रखा। वे उन नार्विक कार्य-विधियों को समझना चाहते थे, जिनसे नियमन होता है। पाव्लोव वर्षों तक यह विश्वास बनाये रहे कि शरीर में चलने वाली प्रक्रियाओं का नियंत्रण किसी दूसरे ढंग से नहीं हो सकता। इस शरीरलोचनी सिद्धांत का नाम भी ऐसा ही था : नर्ववाद। इसका जन्म प्रायोगिक तथ्यों के आधार पर पाव्लोव से पहले ही हो चुका था। रूस में इसके प्रवर्तक इवान सेचेनोव थे, जिन्हें रूसी शरीरलोचन का पिता माना जाता है। उनके अतिरिक्त अन्य आयुरक भी थे, विशेषकर वे, जो पाव्लोव के प्रत्यक्ष गुरु थे : शरीरलोचक इलिया त्सियोन, ऊतलोचक (ऊतकविज्ञान के विशेषज्ञ) फिलिप ओव्स्यान्निकोव और मेधावी डाक्टर सेर्गेई बोत्किन।

इ० त्सियोन को एक खोज में सफलता मिली, जिसने यूरोपियन विज्ञान को हिलाकर रख दिया। उदाहरणार्थ, उन्होंने वह नर्व ज्ञात कर लिया, जो हृदय के कार्य को तीव्र करता है। लेकिन सबसे महत्त्वपूर्ण बात कुछ और थी : उन्होंने सिद्ध किया कि नर्व-तंत्र जीव को सिर्फ बाहरी खतरों से ही नहीं बचाता, वह अंगों के सामान्य कार्यकलाप में कोई गड़बड़ी उत्पन्न होने पर उसे भी स्वचल रूप से दूर कर देता है। यह बात एक प्रतिवर्त के सहारे दिखायी गयी थी, जो रक्त-दाब नियंत्रित करता है। त्सियोन ने एक और नर्व ज्ञात किया, जो महाधमनी के उद्‌भव
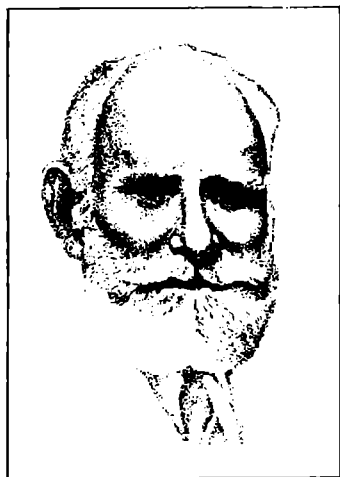
इवान पाव्लोव

से निकलकर मस्तिष्क में जाता है। उन्होंने इसका कार्य भी ज्ञात किया : जब महाधमनी में रक्त का दाब कुछ ज्यादा अधिक हो जाता है, तो महाधमनी की दीवार से लगे संवेदी सिरे इस नर्व के सहारे मस्तिष्क को खतरे के संकेत भेजने लगते हैं ; मस्तिष्क का कुंभीप्रेरक (कुंभियों को गति देने वाला) केंद्र तुरंत ही अन्य नर्वों के सहारे आवेग भेजने लगता है, जो सभी धमनीय कुंभियों को प्रसारित होने के लिये विवश करते हैं ; उनके प्रसारित होते ही रक्त का दाब घट जाता है (कुंभीप्रेरक केंद्र किस जगह स्थित है, यह फि. ओव्स्यान्निकोव ने उसी जमाने में निर्धारित कर लिया था, जब पाव्लोव छात्र थे)। इस प्रतिवर्त के कारण ही स्वस्थ शरीर में रक्त-दाब निरंतर एक निश्चित स्तर पर बना रहता है।

पाव्लोव के प्रथम अन्वीक्षण उनके गुरु की खोजों के प्रत्यक्ष

विकास थे। वे त्सियोन द्वारा वर्णित प्रतिवर्त की अंतिम कड़ी – धमनियों को प्रसारित करने वाले नार्विक आज्ञा के पथ – का अध्ययन कर रहे थे (त्सियोन ने सिर्फ यह तथ्य निर्धारित किया था कि कुंभी शिथिल होते हैं)।* पाव्लोव ने हृदय का संकुचन तीव्र करने वाला नर्व ज्ञात किया और "अपकेंद्री तंत्रिकाओं" के सहारे हृदय के संचालन का एक पूर्ण चित्र प्रस्तुत किया। ये अन्वीक्षण उन्होंने पीटरबुर्ग की सेनायुर अकादमी के छोटे से थेरापिक तल्पालय में संपन्न किये थे। तल्पालय के अध्यक्ष उस समय सेर्गेई बोत्किन थे।

बोत्किन ने पाव्लोव के व्यक्तिगत जीवन में भी और रूस में आयुर के विकास में भी काफी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी थी। चंद पंक्तियों में उनके बारे में कुछ कह पाना कठिन है ; वे एक महान चिकित्सक थे। हमारे लिये इतना ही महत्त्वपूर्ण है कि उन्हें जीवलोचन का बहुत विस्तृत ज्ञान था। इस बात का आप इसी से अंदाज लगा सकते हैं कि रोगलोचक के रूप में अन्वीक्षण तथा खोज-कार्य का प्रशिक्षण उन्होंने जर्मन वैज्ञानिक रुडोल्फ विर्खोफ से लिया था, जो कोशिका-सिद्धांत के महल को पूरा करके उसे आयुर में प्रयुक्त कर रहे थे। वैज्ञानिक के रूप में बोत्किन का लक्ष्य था कि रूस में आयुर का विकास यूरोप में प्रकृतिविज्ञान के स्तर जितना ऊँचा उठाया जाये। अकादमी में, जहां वे पढ़ाते थे, और तल्पालय में, जिसका वे नेतृत्व कर रहे थे, दोनों ही जगह वे इसी बात के लिये प्रयत्नशील रहे। पाव्लोव को उन्होंने कुछेक सौ छात्रों के बीच से चुना था, यद्यपि पाव्लोव को चिकित्सा में कोई रुचि नहीं थी। इस मेधावी

---

* कुंभियों का शिथिल होना उनके प्रसारण को ही इंगित करते हैं। – अनु.

छात्र को बोत्किन ने एक परिपक्व शरीरलोचक के रूप में महत्त्व दिया था, जिसके विचार काफी दिलचस्प थे (पाव्लोव की कुछ कृतियां उस समय तक प्रकाशित हो चुकी थीं)। पाव्लोव के लिये अपने तल्पालय में बोत्किन ने एक छोटी-सी प्रयोगशाला भी संगठित की। इस तरह उन्होंने एक गोली से दो नहीं, तीन 'चिड़ियों' का शिकार किया। उन्होंने इस युवा प्रतिभाशाली वैज्ञानिक को अकादमी में जगह दी, अन्यथा पाव्लोव को लंबे समय तक वैज्ञानिक कार्य से वंचित रहकर किसी छावनी में काम करना पड़ता। उन्होंने पाव्लोव को, यदि आज की भाषा में कहें, हृदयलोचन की महत्त्वपूर्ण शरीरलोचनी समस्याओं का अन्वीक्षण करने का मौका दिया। पाव्लोव को उन्होंने औषधियों के प्रभाव – विशेषकर हृत्कुंभिक तंत्र पर उनके प्रभाव – का अध्ययन करने वाले डाक्टरों के नेतृत्व का भार सौंपा। बोत्किन के इन निर्णयों का फल आशातीत रहा। पाव्लोव के योगदान से प्राप्त दवाएं आयुर में 50-70 वर्ष तक व्यवहृत होती रहीं। सिर्फ आज की नवीनतम दवाएं ही उनका स्थान ले सकीं, जो उनसे कई गुना अधिक कारगर हैं। हृदय की गति तेज करने वाली तंत्रिका के अस्तित्व को स्पष्टता के साथ प्रमाणित करने वाले तथ्य 'घाटी की लीली' (convallaria majalis) के अर्क के प्रभाव की जाँच से प्राप्त हुए।

बोत्किन और पाव्लोव दोनों ही सच्चे नर्ववादी थे। बोत्किन मानते थे कि नर्व-तंत्र के काम में गड़बड़ियां कई रोगों की उत्पत्ति में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। पाव्लोव के विचारों और खोज-कार्यों पर उनका गहरा प्रभाव था।

कुछ वर्ष बाद, ठीक अपनी आकस्मिक मृत्यु के पहले, बोत्किन ने प्रयोगिक आयुर-संस्थान की शरीरलोचनी प्रयोगशाला
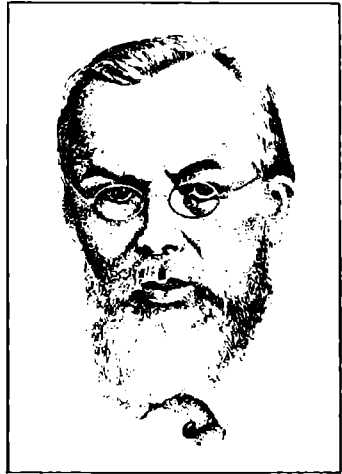
सेर्गेई बोत्किन

के अध्यक्ष के रूप में पाव्लोव की सिफारिश की। संस्थान उस समय अस्तित्व में नहीं था – बोत्किन और अन्य प्रतिभाशाली आयुरकों के कई वर्षों से कोशिश करने पर जार अलेक्सांद्र-III ने इसे निजी साधनों से स्थापित करने की सिर्फ स्वीकृति भर दी थी। यहां पाव्लोव अनेक वर्षों तक पाचनक्रिया के शरीरलोचन का अन्वीक्षण करते रहे। अन्वीक्षण, आपको याद होगा, कुत्तों पर चल रहा था। अपने बहुसंख्य शिष्यों के साथ उन्होंने अनेक महत्त्वपूर्ण खोजें कीं और सभी विचाराधीन प्रक्रियाओं में मुख्य भूमिका नर्व-तंत्र की ही पायी। इसी सिलसिले में सोपाधिक (परिस्थितिज) प्रतिर्वत की खोज हुई और इसके साथ-साथ एक नये क्षेत्र – जंतुओं और खुद मनुष्य के उच्च नार्विक कार्यकलापों – के अध्ययन की विधि भी सामने आयी।

पर अचानक, जिस समय पाव्लोव और उनके स्कूल की

खोजों की पूर्ण सफलता हाथ आ चुकी थी और उनके विचारों की जीत होने जा रही थी, शरीरलोचक प्रायोगिक तथ्य प्राप्त करने लगे कि जीव में कई प्रक्रियाएं ऐसी हैं, जिनकी उत्पत्ति नर्वों के तारों के सहारे मस्तिष्क से आने वाले आवेगों से नहीं होती (पाव्लोव नर्व-तंत्र की तुलना टेलीफोन स्टेशन के साथ किया करते थे)। वे किन्हीं द्रव्यों से उत्पन्न होती हैं। संचालन, जैसा कि बाद में अंग्रेज़ शरीरलोचक अर्नेस्ट स्टार्लिंग ने कहा, 'रसायनिक प्रतिवर्त' की विधि से होता है।

प्रथम तथ्य शांतिपूर्वक स्वीकार कर लिये गये, क्योंकि उनकी सरलता से जाँच हो सकती थी और उनसे दो भिन्न निष्कर्ष नहीं निकाले जा सकते थे। यदि जंतु के दोनों अधिवृक्कों (गुरदे के ऊपर स्थित अंतर्स्रावी ग्रंथियों) को निकाल दिया जाये, तो धमनीय कुंभियों की तानता और हृदय की कार्यशीलता घातक रूप से घटने लगती हैं। लेकिन यदि अधिवृक्क के ऊतकों का अर्क उसके रक्त में मिलाया जाये, तो हृदय अधिक तेज धड़कने लगता है, धमनियां संकुचित होती हैं और रक्त का दाब बढ़ने लगता है। रसायनविदों ने जल्द ही अधिवृक्क के ऊतक से एक अपेक्षाकृत सरल द्रव्य – आद्रेनालीन – निकाला। यह आद्रेनालीन ही उत्प्रेरक का काम करता है।

अन्य अन्वीक्षकों ने यह तथ्य स्थापित किया कि अधोजठरीय ग्रंथि (भोजन सबसे पहले जिस थैली में पहुंचता है, उस थैली – जठर – से ठीक नीचे स्थित ग्रंथि) को निकाल देने पर जंतु चीनी बिल्कुल ही नहीं पचा पाता, उसमें मधुमेह का रोग बहुत तेजी से पनपने लगता है। पाव्लोव अपनी ही प्रयोगशाला में खुद अपने हाथों से ऐसे प्रयोगों में मदद कर रहे थे, जिनसे लेयोनिद सोबोलेव यह सिद्ध कर सके कि इस ग्रंथि में कौनसा

कोशिका-समूह ('इन्सुला' या 'द्वीप') शक्कर को आत्मसात कराने वाला द्रव्य बनाता है। इस द्रव को 20 वर्ष बाद कनाडियन वैज्ञानिकों ने अलग किया और इसका नाम इन्सुलीन रखा।

पाव्लोव को इन प्रयोगों और निष्कर्षों में कोई ऐसी बात नहीं दिखायी देती थी, जो उनकी अवधारणाओं का विरोध करती हो। यदि किसी प्रतिवर्त-पथ के अंत में रसायनिक कड़ी जुड़ी हुई है, तो इससे जीव-प्रक्रियाओं के संचालन की प्रतिवर्त-विधि का मूल सिद्धांत गलत नहीं हो जाता। सिर्फ इस विधि का और भी स्पष्ट चित्र प्राप्त होता है।

घटनाओं ने नाटकीय रूप तब लिया, जब अंग्रेज शरीरलोचक अर्नेस्ट स्टार्लिंग और विलियम बैलिस ने ऐसे तथ्य प्राप्त किये, जिसके अनुसार जीव में अधोजठरीय ग्रंथि के मुख्य कार्य का संचालन शुद्ध रसायनिक प्रतिवर्त द्वारा होता था; तंत्रिका-तंत्र इसमें कोई योगदान नहीं कर रहा था! अधोजठरीय ग्रंथि का मुख्य कार्य है—पाचक रस उत्पन्न करना, जिसमें निहित फर्मेंट (जैव उत्प्रेरक, जैसे खमीर) भोजन में उपस्थित प्रोटीन, वसा और कार्बोहाइड्रेट को विघटित करके ऐसे द्रव्यों में परिणत कर देता है जो आंत्र-कोशिकाओं की झिल्ली पार कर के प्रविष्ट होते हैं और फिर कोशिकाओं से निकल कर रक्त में मिल जाते हैं।

पाव्लोव के लिये यह बिल्कुल बकवास था। अधोजठरीय ग्रंथि का शरीरलोचन दुनिया में एक भी वैज्ञानिक इतनी अच्छी तरह से नहीं जानता था, जितना वे जानते थे। उसका प्रथम अन्वीक्षण उन्होंने छात्र-जीवन से ही शुरू किया था। इसके बाद भी पचीस वर्षों तक वे इस विषय की ओर निरंतर उन्मुख होते रहे, ताकि अधिक विकसित प्रयोगों से अपने निष्कर्षों की

जाँच और उनका शोधन कर सकें। और हर बार वे तथा उनके सहकर्मी इस बात का अकाट्य प्रमाण प्राप्त करते रहे कि अधो-जठरीय ग्रंथि नर्व द्वारा प्राप्त 'आज्ञा' से ही काम शुरू करती है। अपवाद सिर्फ एक घटना थी, जिसने बैलिस और स्टार्लिंग को अपने परिणाम प्राप्त करने के लिये प्रेरित किया था।

बात यूँ थी : इसके कुछ पहले ही ज्ञात हुआ था कि जठर-रस में उपस्थित नमकाम्ल कुत्ते की आँत में डालने पर वह ग्रंथि को काम शुरू करने के लिये प्रेरित करता है। इस बात की व्याख्या स्पष्ट लगती थी : अम्ल नर्व के सिरों में विक्षोभ उत्पन्न करता है, इससे नार्विक केंद्र संकेत प्राप्त करते हैं कि रस भोजन के साथ जठर से निकल कर अगले प्रभाग में पहुँच गया है और इसीलिये वे ग्रंथि को उसी क्षण काम शुरू करने की आज्ञा भेज देते हैं। लेकिन इस व्यख्या की जाँच करनी थी, जिसे पाव्लोव के एक सबसे अच्छे शिष्य ने पूरी की।

जाँच काफी परिष्कृत और शुद्ध रूप से की गयी। निर्णायक प्रयोग में ग्रंथि से निकलने वाली सभी नर्व-शाखाएं काट दी गयीं, विश्वसनीयता के लिये मस्तिष्क का भी तदनुरूप भाग नष्ट कर दिया गया। फिर भी आँत में नमकाम्ल डालते ही ग्रंथि काम शुरू कर देती थी! बस यहीं पर तो पाव्लोव के शिष्य, प्रतिभावान प्रयोगकर्ता अपने सिद्धांत की कैद में आ गये, ऐसे परिणाम पाकर भी सही निष्कर्ष नहीं निकाल पाये। एक महत्त्वपूर्ण खोज उनका आसरा देख रही थी। उन्हें सिर्फ एक कदम उठाना था, सिर्फ एक प्रयोग और करना था। लेकिन उन्होंने यह नहीं किया। वे प्राप्त परिणामों की व्याख्या नर्व की दृष्टि से ढूंढ़ने में लग गये। पाव्लोव ने भी उनसे परिचित शब्दों को सुनकर कोई संदेह नहीं किया।

लेकिन जैसे ही इस काम का विवरण एक अच्छी पत्रिका में छपा, जिसे दुनिया के सभी शरीरलोचक पढ़ते थे, बैलिस और स्टार्लिंग ने इस प्रयोग को दुहराया। इसके बाद उन्होंने उस एकमात्र प्रयोग को संपादित करने का निश्चय किया, जिसके बारे में पाव्लोव के सहकर्मी नहीं सोच पाये थे। उन्होंने आँत की कोशिका में वह द्रव्य प्राप्त किया, जो नमकाम्ल की क्रिया के कारण रक्त में मिल जाता है और रक्त के ही साथ ग्रंथि में आकर उसे काम करने की प्रेरणा देता है। इसीलिये स्टार्लिंग ने रसायनिक प्रतिवर्तों के सभी द्रव्यों को एक सामान्य नाम 'हर्मोन', अर्थात् 'प्रबोधक' रखा (ग्रीक शब्द 'होर्मेयो' से, जिसका अर्थ है 'मैं जगाता हूँ', 'मैं प्रेरित करता हूँ')। हर्मोन के अंतर्गत ही अधोजठरीय ग्रंथि का प्रबोधक 'सेक्रेटीन' आता है, कुंभियों में तानता प्रेरित करने वाला 'आद्रेनालीन' आता है, वह द्रव्य भी आता है, जिसे अबतक अलग नहीं किया जा सका है, लेकिन जो शक्कर आत्मसात करने में सहायक होता है और सोबोलेव के प्रमाणों के अनुसार अधोजठरीय ग्रंथि से स्रावित इन्सुलीनों द्वारा उत्पन्न होता है। आगे भी ऐसे जिन द्रव्यों की खोज होगी, उन्हें हर्मोन ही कहा जायेगा।

किसी को आशा नहीं थी – पाव्लोव ने अचानक ही घोषणा कर दी कि बैलिस और स्टार्लिंग के प्रयोग में कोई **गलती थी, हर्मोन नाम की कोई चीज** नहीं हो सकती, क्योंकि अधोजठरीय ग्रंथि का काम नार्विक विधियों से संचालित होता है। उनकी स्थिति समझी जा सकती है: वे अनेक वर्षों से शुद्ध परिणाम प्राप्त करते आ रहे थे; ये परिणाम कभी भी दुहरा कर प्राप्त किये जा सकते थे, और ये मानो हर प्रश्न का उत्तर दे सकते थे – फिर एक नये सिद्धांत की क्या आवश्यकता थी!

बहस काफी तेज हो गयी। लेकिन पाव्लोव मुख्य प्रमाण हमेशा तथ्य को मानते थे, जो सही ढंग से प्रयोग करने पर प्राप्त होता है। जब बात बहुत आगे बढ़ गयी, तो विपक्षी का 'मुँह बंद करने' के लिये उन्होंने अपने दो शिष्यों को, जो कुशल प्रयोगकर्त्ता थे, बैलिस और स्टार्लिंग का प्रयोग पूरी बारीकी के साथ दुहराने को और उसमें छिपी गलती ढूँढ़ने को कहा। लेकिन जब उन्हें प्रयोग करके दिखाया गया और उनकी आँखों के सामने वे ही परिणाम आये, जो अंग्रेज वैज्ञानिकों के थे, तो वे ठगे-से रह गये। उन्होंने साहस बटोरा और अपने सहकर्मियों के सामने स्वीकार किया कि सच्चाई किसी की बपौती नहीं होती, अंग्रेज शरीरलोचक सही थे और वे, पाव्लोव, गलत थे। स्वीकारोक्ति उन्होंने छपवा कर भी की।

इवान पेत्रोविच पाव्लोव अपनी प्रतिष्ठा के प्रति बहुत संवेदन-शील थे, पर सत्य के सामने झुकने को सदा तैयार रहते थे। जिस प्रयोग में हर्मोन मिला था, उसके गलत मूल्यांकन का कारण उन्होंने समझाया कि वे अपेक्षाकृत बड़े अंगों का शरीर-लोचनी अध्ययन करने के आदी थे, पर इस प्रयोग में उनका वास्ता एक दूसरे स्तर – कोशिका के शरीरलोचन – से पड़ गया था।

लेकिन स्टार्लिंग आंतरिक अंगों – हृदय, जठर, ग्रंथियों आदि – के संचालन की नार्विक विधियों के अस्तित्त्व को नकारते रहे। सिर्फ जब पाव्लोव ने अपने एक प्रतिभाशाली छात्र को लंदन भेजा और उसने अनुभवी शरीरलोचक को दिखाया कि नार्विक विधि स्पष्ट करने वाला प्रयोग कैसे करना चाहिये, तब स्टार्लिंग को मानना पड़ा कि संचालन की दो विधियां हैं।

पाव्लोव का विचार कि ये दोनों विधियां दो भिन्न शरीर-

लोचनी स्तरों के हैं, आगे चलकर सही निकला। २० वर्ष बाद एक दूसरे प्रतिभाशाली शरीरलोचक अलेक्सांद्र समोइलोव ने (वे पाव्लोव और सेचेनोव दोनों ही के शिष्य थे) दिखाया कि जीव में संचालन (या सूचना-प्रेषण) की ये दो विधियां परस्पर मिली-जुली होती हैं। उन्होंने ज्ञात किया कि नार्विक आवेग की श्रृंखला में भी 'रसायनिक कड़ियां' मौजूद हैं।

एक कोशिका के नार्विक रेशे से दूसरी नार्विक, पेशीय अथवा ग्रंथीय कोशिका में आवेग का गमन एक तार से दूसरे तार पर वैद्युत संकेत की तरह नहीं होता; वह संपर्क-क्षेत्रों में मध्यस्थ का काम करने वाले एक रसायनिक द्रव्य के सहारे प्रेषित होता है। इस रसायनिक द्रव्य को माध्यक द्रव्य कहते हैं। समोइलोव ने दोनों विधियों के सहअस्तित्त्व को विकासवादी सिद्धांत की दृष्टि से समझाया। **रसायनिक संकेत-प्रणाली सबसे पुरानी है।** एकल कोशिकीय और प्राथमिक बहुकोशिकीय जीवों में या किसी भी अकेली कोशिका में नियंत्रण की अन्य कोई विधि अभी भी नहीं है। कोशिका के भीतर सभी प्रक्रियाएं जीवरसायनिक और भूत-रसायनिक ही हैं। और पदार्थ कोई भी हो, उसमें संकेत की भूमिका निभाने, कोई प्रतिक्रिया उत्प्रेरित करने या उसे विपरीत दिशा देने की क्षमता निहित होती है। प्राथमिक बहुकोशिकीय जीव की कोशिकाओं के बीच या किसी उच्चस्तरीय जीव के ऊतकों में 'रसायनिक मध्यस्थता' ही पर्याप्त है। बड़ी दूरियों पर स्थित अंगों के बीच तेजी से संकेत वहन करने की क्षमता रखने वाले **नार्विक तंत्र का अंकुरन विकास-क्रम में काफी देर बाद हुआ था।** यह सजीव विशिष्ट चालिकीय उपकरण जितना ही जटिल और विकसित होता गया, इससे संपन्न जीवों को उतना ही अधिक लाभ हुआ, क्रूर नैसर्गिक चयन की परि-

स्थितियों में उसके जीवित रहने की संभावना और भी बढ़ती गयी। लेकिन इस उपकरण में संचालन के आरंभिक तत्त्व अपरिहार्य रूप से सुरक्षित रहे, क्योंकि अंतराकोशिकीय संपर्क के क्षेत्रों में और कोशिकीय झिल्ली की सतहों पर उनका स्थान कोई भी नहीं ले सकता। रसायनिक मध्यस्थ के रूप में प्राप्त संकेत अधिक शुद्ध होता है, शब्द की तरह उसका भी हर स्थिति में एक ही निश्चित अर्थ होता है।

इन आधारभूत अवधारणाओं ने पाचक तंत्र की ही नहीं, हृत्कुंभिक तंत्र की भी सामान्य कार्यशीलता के महत्त्वपूर्ण पक्षों को स्पष्ट किया। इन्होंने आयुरकों के लिये एक नया रास्ता खोला है, जिसकी सहायता से अनेक रोगों की जड़ में छिपी गड़बड़ियां ज्ञात की जा सकती हैं ; इनमें हृत्कुंभिक रोग भी आते हैं, जो आयुर के लिये 20-वीं शती के उत्तरार्ध में मुख्य समस्या बने हुए हैं। दुख की बात है कि अधिकतर वैज्ञानिक लोग विज्ञान का इतिहास नहीं जानते – उन्हें फुर्सत ही नहीं मिलती, वे अपनी ही खोजों में लगे रहते हैं। इसीलिये बहुत-से वैज्ञानिक पुरानी गलतियां दुहरा जाते हैं। चंद वैज्ञानिक (विशेषकर विदेशी) फिर से रट लगाने लगे कि हर्मोन से ही सब कुछ पूर्वनिधारित होता है। दूसरे वैज्ञानिक जीव में मस्तिष्क को (उसमें भी सिर्फ उसके उच्च विभाग – उसके वृहत अर्ध के वल्कुट को) ही एकमात्र संचालक-केंद्र मानते हैं। इसी दिशा में गर्मागर्म बहस अतितानी रोगों की उत्पत्ति के विशिष्ट प्रश्न पर भी हो रही थी। जब मैं छात्र था और बाद में जब मैं डाक्टर का काम करने लगा, इस रोग की समस्या काफी तीव्र थी। मुझे 25-30 वर्षीय जवान रोगियों की याद है, जिनकी दुर्दम अतितान से देखते-देखते मृत्यु हो जाती थी। उस समय आज जैसे साधन

नहीं थे, जो धमनीय दाब को नियंत्रित रखते, उसे आवश्यक स्तर पर बनाये रखते। रोग बढ़ता जाता था। रोगियों में वृक्कीय अपूर्णता पनपने लगती थी, मस्तिष्क में रक्त-संचार सुचारु नहीं रह जाता था, उनकी मृत्यु हो जाती थी...

रोग, जिसे रोग नहीं मानते थे

बात प्राचीन ग्रीक के प्रतिभाशाली चिकित्सक हिप्पोक्रेटस से शुरू करता हूँ, जो मिथक के अनुसार आस्क्लेपियस के वंशज थे। आस्क्लेपियस को एलीनवासी चिकित्सा का देवता मानते थे, उनके अनुसार वे कला के देवता और देवताओं के चिकित्सक अपोलो के पुत्र थे।

आस्क्लेपियस का वंश-वृक्ष भी सुरक्षित है: हिप्पोक्रेटस इसमें सतरहवीं संतति के वंशज हैं। इस वंश के सभी पुरुष आस्क्लेपियस के मंदिरों में रहते थे और चिकित्सा-कार्य करते थे। ये मंदिर ही प्राचीन काल के चिकित्सालय थे। लेकिन हिप्पोक्रेटस मंदिर में चिकित्सक नहीं थे, वे 'सामाजिक' चिकित्सक बन गये और इस पद पर ग्रीस के भिन्न नगरों में काम करते रहे। एथेंसवासियों की प्लेग से रक्षा करने के लिये उन्हें नगर के सम्मानीय नागरिक की पदवी दी गयी और उन्हें स्वर्ण मुकुट से सुशोभित किया गया। महान दार्शनिक प्लेटो ने उनके बारे में लिखा है कि वे एक प्रतिभाशाली चिकित्सक और चिंतक थे। आगे की संततियों ने उन्हें आयुर के पिता के रूप में सम्मानित किया। हिप्पोक्रेटस और उनके शिष्यों की कृतियों का संग्रह चिकित्सा-कला पर उपलब्ध लिखित ग्रंथों में सबसे पुराना है।
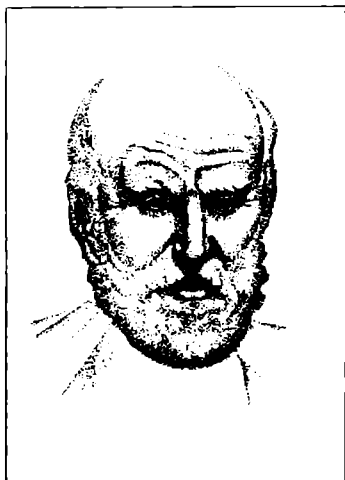
हिप्पोक्रेटस

हिप्पोक्रेटस की कृतियों में विस्तृत मंत्रणाएं दी गयी हैं और वे आज की दृष्टि से भी गलत नहीं हैं। उनमें अनेक बीमारियों के सूक्ष्म लक्षण बताये गये हैं, और उनकी उत्पत्ति के कारणों में 'ईश्वर का प्रकोप' या 'नजर लगना' नहीं, बल्कि गलत आहार, विभिन्न अतिरेक, बुरे मौसम का प्रभाव आदि बताये गये हैं। कई रोगों का कारण मियाज्मा (सड़ाँध) भी बताया गया है, जो हवा या गंदे पानी के माध्यम से शरीर में प्रविष्ट होता है। इन कारणों से रक्त, कफ और पित्त आदि रस मानो एक-दूसरे से मिश्रित होने लगते हैं, या कोई रस वहां पहुँच जाता है जहां उसे नहीं होना चाहिये। इसी से तरह-तरह के रोग उत्पन्न होते हैं। बात कुछ अजीब-सी लग सकती है, पर इस भोली परिकल्पना में एक विचार छिपा है, जो अब सही

सिद्ध हो रहा है: रोगों की उत्पत्ति में जीवरसायनिक परिवर्तनों की भूमिका होती है।

हिप्पोक्रेटस ने एक ऐसे रोग का भी वर्णन किया है, जो अप्रत्याशित रूप से होता है। इसका नाम उन्होंने आपोप्लेक्सिया, अर्थात् अपघात रखा। रोग का आक्रमण बिजली की तरह होता है – रोगी बेहोश हो जाता है और जब होश में आता है, तो पता चलता है कि उसे आधे शरीर में लकवा मार गया है। इसके अतिरिक्त कभी-कभी लंबे समय के लिये वाकभंग भी हो जाता है और इसका मतलब है कि अपघात ने मस्तिष्क को भी ग्रस्त कर लिया है।

हिप्पोक्रेटस को गुजरे 24 शताब्दियां बीत चुकी हैं, पर इनमें से 21 शताब्दियों तक आयुरक लोग 'मस्तिष्क-आघात' का कारण यही बताते रहे कि रोगी के 'सर में रक्ताघात' हो गया है। वे सोचते थे कि यह रोग कुछ विशेष प्रकार के 'अपघात-संवेदी' लोगों को ही होता है, जो प्रौढ़, मोटा, अधिक खून वाला और अक्सर पेटू होता है और ऊपर से हर झंझट वाले मामले पर बहुत बुरी प्रतिक्रिया करता है। 'आघात' को मन के अत्यधिक आलोड़न का फल मानते थे। यह तो मानना ही पड़ेगा कि पुराने आयुरकों की निगाह बहुत पैनी थी। वे लिखते हैं: ऐसे रोगियों की नाड़ी 'तनावपूर्ण' और 'कड़ी' होती है, हर बात पर तेज होने लगती है। रोगी का मन खराब होने पर अतिरक्तता शांत करने के लिये रक्त-निकास करना चाहिये, वह भी एक बार नहीं, कई बार। छाती पर और माथे के पीछे जोंक रखना चाहिये। पिछली शती के अंत तक रक्त-निकास का प्रयोग बहुत अधिक प्रचलित था, इसका प्रयोग बिना जरूरत के भी कर देते थे। 19-वीं शती के पूर्वाध में वे बहुत मशहूर

थे – बुखार, गठिया और यहां तक कि साधारण सरदर्द का भी रक्त-निकास से इलाज की सलाह देते थे। डाक्टरों में उनका इतना सम्मान था कि फ्रांस में सिर्फ 1829 ई० में 330 लाख जोंकों का प्रयोग हुआ। समकालीन लोग मजाक में कहते थे: "नेपोलियन ने फ्रांस को बर्बाद कर दिया और ब्रुस्से ने उसे रक्तहीन कर दिया"। चिकित्सा की किसी भी विधि का प्रयोग बिना सोचे-समझे नहीं करना चाहिये। ब्रुस्से और उनके अनुयायियों की इस सनक से अधिकतर लोगों को फायदे की जगह नुकसान ही हुआ था। रक्त-निकास और जोंक का प्रयोग हमारे दिनों में भी होता है, लेकिन तभी जब सचमुच इसकी आवश्यकता होती है।

...दो हजार वर्ष बाद, जब प्रकृतिविज्ञान प्रायोगिक आधार ग्रहण करने लगा और विलियम हार्वे ने रक्तसंचार की प्रणाली का चित्र प्रस्तुत किया, गंभीर और चिंतनशील डाक्टरों को धीरे-धीरे विश्वास होने लगा कि किसी भी रोग की क्रियाविधि को उन परिवर्तनों से स्पष्ट करनी चाहिये, जिन्हें वह जीव में उत्पन्न करता है। इस तरह रोगलोचनी अनाटोमी का जन्म हुआ। अपघात के कारण मृत रोगियों के प्रथम विवृतन में ही रोगलोचनी अनाटोमीविदों ने देखा कि धमनियां फटी हुई हैं और उनसे निकले रक्त के थक्कों ने मस्तिष्क के उस क्षेत्र को जोर से दबा रखा है और उसके कोमल द्रव्य को क्षत कर दिया है। यह 18-वीं शती के आरंभ में हुआ था और उसी समय स्पष्ट हो गया था कि इन्सुल्त (घात या प्रहार के लिये लातीनी शब्द) किसी मुख्य रोग की अंतिम परिणति है, जो पहले से मस्तिष्क की धमनी को ही नहीं, शरीर की अन्य कुंभियों को भी क्षत-विक्षत करके छोड़ देता है। कुंभी-ऊतकों के कुछ भाग दबकर

इतने कठोर हो गये थे कि उस पर चिमटी से ठोकने पर चोट की आवाज भी सुनायी पड़ती थी ; उस समय के रोगलोचक सोचते थे कि वहां पर 'अस्थि-द्वीप' बन गये हैं।

इस मुख्य रोग को आथेरोस्क्लेरोसिस (अक्षरश: – खीर-कठोरन) नाम दिया गया – ग्रीक athera (खीर) और sclerosis (कठोरन) से। दो शताब्दियों बाद सूक्ष्मदर्शीय तथा रसायनिक विधियों से इसका अध्ययन होने लगा। पता चला कि धमनी की भीतरी दीवारों पर छायी हुई पतली, कोमल झिल्ली के नीचे अनेकानेक धब्बे बन जाते हैं, जो दरअसल वसा-सदृश द्रव्य खोलेस्टेरीन के जमाव हैं। प्रक्रिया के विकास के साथ-साथ आगे चलकर 'धब्बों' में चूने (कैल्सियम) के लवण भी जमा होने लगते हैं, जिसके कारण कुंभी की दीवारें सचमुच कठोर हो जाती हैं।

इसके बाद बिल्कुल स्वाभाविक निष्कर्ष यही था कि ऐसे परिवर्तनों के फलस्वरूप धमनी में प्रसार करने की क्षमता नहीं रह जाती है (जब रक्त-दाब कम करने के लिये कुंभी-प्रेरक केंद्र उन्हें फैलने की 'आज्ञा' भेजता है)। इसके अतिरिक्त, धमनियों की दीवार के ऊतक को पर्याप्त पोषण मिलना बंद हो जाता है, क्योंकि हर कुंभी की अपनी कुंभियां होती हैं और कैल्सियम से कठोर हुए धब्बे उन्हें दबाते रहते हैं। 'भूखी' धमनियों की दीवारों पर घाव उत्पन्न होने लगते हैं। ये ही वे स्थान हैं, जहां धमनियों की दीवारों में दरार पैदा हो सकते हैं, या स्कंदित (थक्का हुए) रक्त के लोष्ट (रोड़े) बन सकते हैं, जो कुंभी में रक्त बहने का रास्ता बंद कर देते हैं। यदि लोष्ट धमनी में रक्त का बहना रोक देता है, तो परिणाम वही होते हैं, जो मस्तिष्क में रक्तस्राव के होते हैं : इस धमनी के सहारे

मस्तिष्क के जिस भाग में रक्त पहुँचता है, वह भाग आक्सीजन की कमी से जल्द मृत हो जाता है। इसीलिये कुंभियों का लोष्टन भी इन्सुल्त (घात) ही कहलाता है। पिछली शती के अंत तक आयुरक इस रोग के बारे में यही जानते थे।

1892 में प्रतिभावान रूसी डाक्टर व्लादीमिर केर्निग ने पिटरबुर्ग चिकित्सा-समाज के समक्ष अपने प्रतिवेदन में बताया कि खीरकठोरन एक और रोग का कारण है, जिसे उस समय 'सीने में घुटन' कहते थे। इसका एक और नाम है – स्टेनोकार्डिया (उरोदमन), जो इसके मुख्य लक्षण के बिल्कुल अनुरूप है: जब इसका दौरा पड़ता है, तो लगता है कि दिल दबकर घुट रहा है। इस तरह का दर्द विशेषकर शारीरिक तनाव या किसी तेज अकुलाहट के वक्त होता है।

लेकिन पिछली शती के अंत तक उरोदमन एक दुर्लभ रोग था। डाक्टर केर्निग ओबुख के नाम पर स्थापित चिकित्सालय के मुख्य चिकित्सक थे। यह पिटरबुर्ग का सबसे बड़ा चिकित्सालय था, उस जमाने में भी वहां कोई हजार पलंगों की व्यवस्था थी। यह नगर के अधीन था और चिकित्सा-शुल्क उस समय की स्थिति देखते हुए बहुत कम था। वहां रोगियों की बहुतायत रहती थी और इसीलिये व्लादीमिर केर्निग अपने रोगियों के आधार पर विभिन्न रोगों की आवृत्ति (बारंबारता) बहुत शुद्धता के साथ बता सकते थे। उनका प्रतिवेदन पहला वैज्ञानिक प्रमाण था कि उरोदमन रोग की आवृत्ति में गंभीर परिवर्तन हुए हैं: 19-वीं से 20-वीं शती के प्रवेशकाल में इस रोग की घटनाएं पहले से अधिक संख्या में मिलने लगी हैं। केर्निग ने अपने प्रतिवेदन में बताया कि इसका संबंध "खीरकठोरन के अत्यधिक प्रसार के साथ है, क्योंकि उरोदमन निस्संदेह हृदय की महा-

धमनियों के कठोरन पर निर्भर करता है"।

यह कोई अंदाजी टक्कर की बात नहीं थी, यह बड़ी संख्या में रोगियों के प्रेक्षण पर आधारित एक वैज्ञानिक निष्कर्ष था और केर्निग इन रोगियों का इलाज भी काफी सफलता के साथ कर रहे थे। सबसे बड़ी बात तो यह थी कि जिन रोगियों को बचाने में सफलता नहीं मिली, उनके हृदय के रोगो-अनाटोमिक अन्वीक्षण में महाधमनी के खीरकठोरनी परिवर्तन बिल्कुल साफ प्रेक्षित हुए।

दो स्थितियों में केर्निग ने महाधमनी का लोष्टन और हृत्पेशी के सुसीमित भागों का संगलन भी देखा। ये वे भाग थे, जहां ऊतकों का पोषण रुक गया था; अपोषणग्रस्त भाग में घाव बनने के निशान भी मौजूद थे।

इस तरह से आयुर को हृत्पेशी के इन्फार्क्त का प्रथम वर्णन प्राप्त हुआ। इन्फार्क्त शब्द से रोगलोचक किसी भी अंग के ऊतक के उस भाग को द्योतित करते हैं, जो उसे पोषित करने वाली कुंभी के लोष्टन के कारण मृत हो जाता है।

केर्निग बहुत अच्छे आदमी और बहुत अच्छे शिक्षक भी थे। शरीरलोचक ओव्स्यान्निकोव, रसायनविद मेंदेलेयेव और बूतलेरोव आदि अग्रणी वैज्ञानिकों और डाक्टरों के साथ मिलकर उन्होंने महिला उच्च चिकित्सा विद्यालय खुलवाया, जिसमें वे थेरापी पढ़ाते थे। साथ ही वे कुशल निदानक भी थे। सारी दुनिया के थेरापक और नर्वरोगलोचक आज भी अपने रोगियों का परीक्षण करते वक्त यह जरूर देखते हैं कि उनमें कहीं 'केर्निग लक्षण' तो नहीं हैं। (उनके द्वारा निर्धारित एक लक्षण मस्तिष्क की झिल्लियों के क्षोभ का प्रमाण देता है, और दूसरा लक्षण – हृत्पेशी के विस्तृत इन्फार्क्त का)।

निकोलाई स्त्राभेस्को

पर केर्निंग अपने प्रेक्षणों को छपाने की परवाह बहुत कम करते थे। आधी शती तक फलप्रद कार्य में रत रहने के बावजूद भी वे सिर्फ दस के करीब निबंध प्रकाशित करा सके। 1892 का उनका इतना महत्त्वपूर्ण प्रतिवेदन सिर्फ चंद पैराग्राफों में था, जो "पिटरबुर्ग चिकित्सा-समाज के लेख-संग्रह" में छपा था।

केर्निंग का दूसरा निबंध 12 वर्ष बाद "रूसी डाक्टर" पत्रिका में छपा; इसमें उरोदमन के बाद हृदय में होने वाले परिवर्तनों के बारे में लिखा गया था, लेकिन उनके समकालीन सहकर्मियों ने निबंध का सही मूल्यांकन नहीं किया। नये तथ्यों और निष्कर्षों को घोषित करने की कला होती है, पर केर्निंग ने हृदय के रोगग्रस्त होने के जिस लक्षण को निर्धारित किया था, अपना सारा ध्यान उसी की व्याख्या और स्थापना पर केंद्रित कर दिया और खुद इन्फार्क्त के बारे में इस तरह से लिखा, जैसे लोग उसे बहुत पहले से जानते हों।

वासीली ओब्राज्त्सोव

एक स्वतंत्र रोग के रूप में महाधमनी के लोष्टन और हृदय के इन्फार्क्त का शुद्ध वर्णन कुछ वर्ष बाद 1909 में कीयेव के थेरापकों ओब्राज्त्सोव और स्त्राभेस्को ने प्रस्तुत किया। उन्होंने प्रक्रिया का रोगलोचनी आधार और रोग का तल्पिक चित्र, अर्थात् उसके आरंभ से लेकर उसकी परिपक्वता तक के लक्षणों का पूर्ण विकास-चित्र काफी विस्तृत और शुद्ध रूप में दिया। उन्होंने उन लक्षणों का भी वर्णन किया, जो डाक्टर को धोखे में डाल सकते हैं, उसे गलत निदान के लिये प्रेरित कर सकते हैं (ये लक्षण भी तल्पिक चित्र में आते हैं)। क्योंकि अक्सर देखा गया है कि इन्फार्क्त का रोगी दर्द को सीने में नहीं बल्कि – उदाहरण के लिये – जठर या यकृत (कलेजी) में महसूस करता है। इसके साथ-साथ अन्य लक्षण भी प्रकट हो सकते हैं, जो जठर-व्रण या पित्त-वस्ती के शोथ या किसी अन्य बीमारी के सूचक होते हैं। यदि डाक्टर को सभी प्राप्त लक्षणों का सही मूल्यांकन

करके सच्चाई तक उतरने में सफलता नहीं मिलती, तो उसकी गलती रोगी के लिये बहुत महंगी सिद्ध होगी।

ओब्राज्त्सोव और स्त्राझेस्को की महत्ता इस बात में है कि उन्होंने रोग प्रकट होने के उन रूपों का वर्णन किया, जिनमें निदान कठिन होता है और डाक्टर से गलती होने की संभावना रहती है। इसके लिये उन्होंने अपनी कृति में अपनी ही गलतियों का बेझिझक विश्लेषण किया और इस तरह से महान रूसी करोर्जक निकोलाई पिरोगोव की परिपाटी को आगे बढ़ाया। पिरोगोव ने गलतियों के खुलेआम और खुलेदिल विश्लेषण को चिकित्सा-कला के विकास के लिये एक शक्तिशाली उत्प्रेरक में परिणत कर दिया था।

एक और महत्त्वपूर्ण बात हुई: ऐन मौके पर, जब डाक्टरों का ध्यान स्वतंत्र रोग के रूप में हृदय के इन्फार्क्त पर लगा हुआ था, आयुर में दो नयी विधियों का प्रवेश हुआ, जिन्होंने हृदलोचन के विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी।

पहली विधि विद्युहृदलेखन (एलेक्ट्रोकार्डियोग्राफी, इ० सी० जी०) है। इसमें पेशी द्वारा 'कार्य-संपादन की विद्युधारा (तथाकथित 'कार्य-विद्युधारा') का अभिलेखन होता है, जो हृत्पेशी के उद्दीपन के वक्त उत्पन्न होती है (ऐसी धारा किसी भी पेशी के उद्दीपन-काल में उत्पन्न हो जाती है)।

हृदय का संकोचन शुरू करने वाला हर उद्दीपन हृदय के आरंभिक छोर से उत्पन्न होता है और तरंग के रूप में उसके ऊपरी सिरे तक छा जाता है। जिस बिंदु पर वह शुरू होता है, वहां उस क्षण ऋणावेश उत्पन्न होता है और हृदय के ऊपरी सिरे पर शक्तिशाली धनावेश उत्पन्न होता है। फलस्वरूप, हृदय विद्युचुंबक का काम करने लगता है और उसकी कार्य-

विधारा चुंबकीय क्षेत्र की बल-रेखाओं के सहारे पूरे शरीर के सभी ऊतकों पर फैल जाती है। यह सब बिल्कुल भौतिकीय नियमों के अनुसार होता है।

कई दशकों से अनेक सैद्धांतिक तथा व्यावहारिक आयुरक किसी ऐसी भौतिकीय विधि की खोज में थे, जिसके सहारे हृत्पेशी की अवस्था का पता लग सके। उदाहरणतया, इ० त्सियोन कुछ मजाक में ही सही, सिर्फ साधारण हृदलेख – हृद-संकोचन के यांत्रिक अभिलेख – के सहारे आदमी की भावनाएं जानने का सपना देखा करते थे।

हृदय को उसकी जीव-विद्युधारा के सहारे "समझने' की संभावना अनेक अन्वीक्षकों के कठिन तथा सूक्ष्म कार्य के फलस्वरूप ही उत्पन्न हुई है, जिनमें प्रमुख है: निकोलाई व्विदेन्स्की, वसीली चागोवेत्स, अलेक्सांद्र समोइलोव। उन्होंने तंतियों और पेशियों में प्रेक्षित वैद्युत संवृत्तियों के महत्त्वपूर्ण सिद्धांतों का वर्णन इस शती के आरंभ में कर दिया था। इसी समय, 1903 में, हालैंड के शरीरलोचक विल्हेल्म आइंटहोवेन, जो लेइडेन विश्वविद्यालय में काम कर रहे थे, हृदय की कार्य-विधारा का अभिलेख प्राप्त करने में सफल हो गये। इसके लिये उन्होंने एक विशेष संवेदी उपकरण – तंत्री-गैल्वेनोमीटर (तार वाला गैल्वेनोमीटर) – बनाया था। इसमें क्वार्ट्स के अतिसूक्ष्म – शुरू में 1 μm और बाद में 0.01 μm व्यास वाले – तार का कंपन हृत्पेशी में विद्युधारा-प्रसार की तरंगों को दुहराता है; कंपन एक फोटो-पेपर पर प्रकाश-किरण द्वारा अंकित होते हैं। समोइलोव भी ऐसे परिणाम प्राप्त करने के लिये प्रयत्नशील थे, लेकिन एक अन्य उपकरण से। यह केशिका-विद्युमापी था, जिसमें पेशी की कार्य-विद्युधारा पारे के मेनिस्कस में कंपन उत्पन्न करती थी। समोइलोव ने जैसे ही

आइंटहोवेन का निबंध देखा, वे उनके परिणामों की सुंदरता से बहुत प्रसन्न हुए और सूक्ष्म उपकरण तथा उसके निर्माता से परिचय करने के लिये तुरंत लेइडन चले गये। उस समय से दो प्रतिभाशाली शरीरलोचकों और, जैसा कि समोइलोव मजाक में कहते थे, उनके तंत्री-गैल्वेनोमीटर के बीच मैत्री शुरू हो गयी। प्रायोगिक तथा तल्पिक आयुर में विद्युहृदलेखन को एक विधि के रूप में आज जो स्थान प्राप्त है, इसके लिये हम इसी मैत्री के आभारी हैं।

नर्व-स्पंद के प्रेषण की श्रृंखला में रसायनिक कड़ी की खोज, जिसका शरीरलोचनी विचारों में आधारभूत महत्त्व है, समोइलोव तंत्री-गैल्वेनोमीटर की सहायता से ही कर सके थे। इस उपकरण से वे सेकेंड के एक लाखवें अंश की शुद्धता से नाप सके कि पाँच सेंटीमीटर लंबे नर्व-तंतु में तापक्रम कम होने पर स्पंद का प्रेषण, विशेषकर नर्व-सिरों से पेशी-कोशिका तक उनका प्रेषण, कितना धीमा हो जाता है (प्रयोग मेढ़क से लिये गये नर्व और पेशी पर किये गये थे)। पता चला कि कोशिका के साथ संपर्क-स्थल पर स्पंद की गति बहुत तेजी से कम होती है, इतनी तेजी से, मानो तापक्रम-ह्रास किसी भौतिक प्रक्रिया की नहीं, रसायनिक प्रतिक्रिया की चाल धीमी करता हो। इस सूक्ष्म प्रेक्षण से ही कुशल प्रयोगकर्त्ता ने इतना साहसपूर्ण निष्कर्ष निकाला था। इसके 8 वर्ष बाद उनके शिष्य किब्याकोव को नर्व-गाँठ से एक ऐसा द्रव्य प्राप्त करने में सफलता मिली, जिसे पेशी-ऊतक में प्रविष्ट कराने पर वैसा ही प्रभाव प्रेक्षित होता था, जैसा नर्व-स्पंद से। यह भी निर्धारित हो गया कि कौनसे द्रव्य बिचवई का काम करते हैं। इनमें आसेतिलखोलीन, आद्रेनालीन, नोर-आद्रेनालीन, सेरोतोनीन तथा कुछ अन्य द्रव्यों के नाम आते हैं।

विद्युहृदलेख द्वारा प्रतिबिंबित प्रक्रियाओं को समझने की कुंजी भी तुरंत हाथ नहीं आयी थी। यह तो आज ई. सी. जी. एक साधारण चीज हो गयी है। इसे चिकित्सा-प्रतिष्ठान 70 वर्ष से उपयोग में ला रहे हैं। उपकरण की बनावट भी बिल्कुल बदल गयी है, हृदलेख अब प्रकाश-किरण द्वारा फोटो-पेपर पर नहीं बल्कि मिलिमीटर आकार के वर्गों से विभाजित कागजी फीते पर स्याही द्वारा अंकित होता है। अबतक अंकित सभी फीतों की कुल लंबाई शायद करोड़ों किलोमीटर हो गयी होगी। सारी दुनिया में सैकड़ों-हजारों डाक्टर हर दिन फीते पर अंकित वक्र के उतार-चढ़ाव देखते हैं, उनकी ऊँचाई और उनकी आपसी दूरी नापते हैं। उनमें परिवर्तनों, वैद्युत अक्ष से उनके विचलनों आदि अनेक लक्षणों के आधार पर निष्कर्ष निकालते हैं: 'हृत्पेशी की अग्र तथा पार्श्व दीवारों के पोषण में गड़बड़ी' या 'हिस-पुंज की बायी टांग का अवरोध' (जर्मन विच्छेदविद् विल्हेल्म हिस के नाम से ज्ञात विशेष नर्वों का पुंज, जो हृदय की विभाजक-दीवारों में होते हैं; उद्दीपन उन्हीं के सहारे प्रसारित होता है)। कई अन्य प्रकार के निष्कर्ष भी संभव हैं।

लेकिन वक्र के उतार-चढ़ाव में किस बात का क्या अर्थ है, यह डाक्टर तथा शरीरलोचक लोग आइंटहोवेन और समोइलोव की कृतियों से ही समझ सकें, जिनमें विद्युहृदलेखन का क ख रचा गया था। उनके अनेकानेक अनुयायी भी हुए, जिनके श्रम से यह विधि-विशेष आयुर की लगभग स्वतंत्र शाखा में परिणत हो गयी।

दूसरी विधि थी – धमनी में रक्त के दाब का मापन। 1909 में इतालवी डाक्टर शिपियोने रीवा-रोच्ची ने एक बहुत

सुविधाजनक उपकरण का आविष्कार किया, जिसे तानमापी (टोनोमीटर) कहते हैं।

मैं नहीं जानता, विस्तार में यह समझाने की जरूरत है या नहीं कि कुंभियों में रक्त-दाब एक नियत स्तर पर होना चाहिये – धमनियों में ऊँचा और शिराओं में नीचा। इसके बिना रक्त-संचार संभव ही नहीं होता। शरीरलोचक यह बहुत पहले ही समझ गये थे और जंतुओं के हृत्कुंभी-तंत्र का अन्वीक्षण करते वक्त भिन्न प्रभावों और भिन्न परिस्थितियों के अंतर्गत रक्त-दाब के परामितक (लंछक मान) नापना नहीं भूलते थे। तल्पालय के डाक्टर भी बहुत पहले से महसूस करते रहे थे कि विभिन्न रोगलोचनी प्रक्रियाओं के साथ धमनी-दाब में भी परिवर्तन होते रहते हैं।

'अपघात-सहज' रोगियों में 'रक्तपूर्णता' के वाह्य लक्षण यही दिखाते हैं कि दाब ऊँचा है। रोगी में चाहे 'रक्तपूर्णता' नहीं भी हो, लेकिन वह पीला और कमजोर हो, उसे शोफ हो, उसकी नाड़ी 'तनावपूर्ण' और 'कठोर' हो, तो इससे भी वही निष्कर्ष निकलता है। फिर भी अनुमान करना एक बात है और सही तथ्य प्राप्त करना बिल्कुल दूसरी बात है। डाक्टरों को आज भी अक्सर याददाश्त और अंदाज पर भरोसा करना पड़ता है, लेकिन किसी भी अन्य विषय की तरह आयुर में भी विज्ञान 'संख्याओं और नाप-तौल' से ही शुरू होता है।

डाक्टरों की तुलना में शरीरलोचकों की जिंदगी कहीं आसान थी। वे जंतुओं पर प्रयोग करते थे, किसी भी कुंभी में, यहां तक कि महाधमनी में और हृदय के भीतर गुहा में भी, दाबमापी की नली घुसाते रहते थे। लेकिन इस विधि से आदमी के रक्त
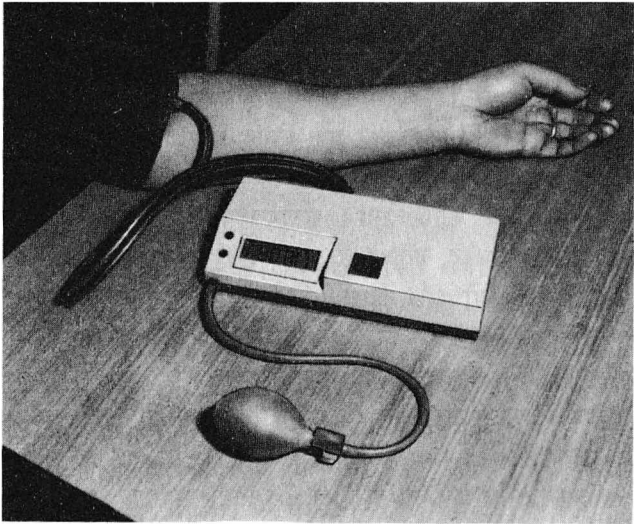
तानमापी (टोनोमीटर)

का दाब नापना संभव नहीं माना जाता था, और यह उचित भी था। हमारी शती के आरंभ में एक से एक उपकरण सामने आ रहे थे, जो शरीर के बाहर से ही दाब नापने के लिये बनाये गये थे। इनमें रीवा-रोच्ची का तानमापी इतना सफल रहा कि डाक्टरी में आज भी इसका उपयोग हो रहा है। अब इसके अनेक विकसित रूप आ चुके हैं, पर उनकी बनावट का सिद्धांत बिल्कुल नहीं बदला है। सिद्धांत बहुत सरल है और दाब किस तरह से मापा जाता है यह आप जानते ही होंगे।

रीवा-रोच्ची का उपकरण और उनकी विधि डाक्टर कोरोत्कोव के सुधारों के बाद जब चिकित्सा के दैनंदिन व्यवहार में काम आने लगे, डाक्टर लोग और भी अधिक रोगियों में धमनीय

अतितान पाने लगे (रक्तदाब जब शरीरलोचनी मानकों से बहुत ऊपर हो जाता है, तो इस विकार को अतितान कहते हैं)।

...अब हम उस समस्या के निकट पहुँच रहे हैं, जिसमें रुचि जगने के कारण ही मैं युवावस्था में हृदलोचन की ओर आकर्षित हुआ था। उस समय छठे दशक में यह 'आंतर आयुर' का पूरी तरह स्वतंत्र क्षेत्र नहीं बन पाया था। थेरापकों और रोगोशरीरलोचकों के बीच बहुत समय से बहस चल रही थी कि धमनीय अतितान आखिर है क्या। क्या यह किसी एक बीमारी (या हो सकता है, अनेक बीमारियों!) का लक्षण मात्र है, या यह कोई स्वतंत्र रोग है जिसमें उच्च रक्त-दाब ही अन्य सभी जटिलताओं का मुख्य कारण है?

बिल्कुल सही-सही निर्धारित हो चुका था कि अतितान ज्यादातर खीरकठोरन की स्थिति में प्रेक्षित होता है और यह कि मस्तिष्क में रक्तस्राव या लोष्टन होने के पहले रक्तदाब लगभग हमेशा ही भयानक रूप से ऊपर-नीचे होने लगता है – इस अवस्था को 'अतितान संकट' कहते हैं। यह भी – कि तीव्र शोथ या विषाक्त पदार्थों के कारण वृक्क में गहरी क्षति के साथ हमेशा ही उच्च रक्तदाब भी प्रेक्षित होता है, वह इतनी ऊँची छलांगें लगाने लगता है कि वैसी ही जटिलताओं का खतरा उत्पन्न हो जाता है। और अंत में यह भी – कि अतितान बिल्कुल भिन्न प्रकार के रोगों से ग्रस्त लोगों में देखा जाता है।

लेकिन इसके बावजूद **अधिकतर स्थितियों में कोई भी अन्य बीमारी प्रेक्षित नहीं होती।**

उस समय के कुछ डाक्टर रोगी में जब अतितान किसी अच्छी तरह से ज्ञात कारणों वाली बीमारी के साथ देखते थे, तो

गियोर्गी लांग

जल्दबाजी में यही निष्कर्ष देते थे कि अतितान एक सहलक्षण के रूप में प्रकट होता है।

पर 1922 में ही लेनिनग्राद थेरापिक विचारधारा के प्रवर्तक, प्रतिभाशाली वैज्ञानिक और डाक्टर गियोर्गी लांग ने अपनी एक रचना में लिखा था कि स्वतंत्र बीमारी के रूप में उत्पन्न अतितान और किसी अन्य बीमारी – जैसे वृक्क की क्षति – के लक्षण के रूप में उत्पन्न अतितान में भेद करना चाहिये। बाद की रचनाओं में वे अतितानी रोग के विभिन्न चरणों और प्रत्येक चरण के अनुरूप कुंभियों में होने वाले परिवर्तनों का चित्र प्रस्तुत करते रहे। उन्होंने इस बात की ओर विशेष रूप से ध्यान आकर्षित किया कि रोग बिना किसी स्पष्ट लक्षण के लंबे समय तक चलता

रहता है ; रोगी सिर्फ कभी-कभी तबियत खराब महसूस करता है, उसमें कोई स्पष्ट अनाटोमिक परिवर्तन नहीं होता। क्योंकि कोशिकाओं और ऊतकों को कोई नुकसान पहुँचने के पहले तक गड़बड़ी सिर्फ जीवरसायनिक और भूत रसायनिक परिवर्तनों के स्तर तक सीमित रहती है और ये परिवर्तन उत्क्रमणीय हैं। एक निश्चित सीमा में आखिर विनाशकारी परिणाम भी उत्क्रमणीय होते हैं ; इसी की कृपा से तो आयुर हमें निरोग करने में सक्षम होता है।

लांग के ये विचार कि रोग एक प्रवेगिक, परिवर्तनशील और उत्क्रमणीय प्रक्रिया है – उत्कृष्ट थे, अपने समय के लिये नये थे। लेकिन उनकी बातें लाख तर्कसंगत होने के बावजूद भी उस समय के प्रायोगिक अन्वीक्षण विपरीत परिकल्पना के ही पक्ष में नये-नये तथ्य प्रस्तुत कर रहे थे (कि अतितान एक लक्षण है, मुख्य रोग नहीं है)।

1933 में अमरीकी रोगोशरीरलोचक प्रोफेसर गोल्डब्लाट और उनके सहकर्मी प्रयोग द्वारा कुत्ते में वृक्कीय अतितान उत्पन्न करने में सफल हुए। वे बिल्कुल सही अनुमान पर चल रहे थे कि वृक्क में किसी भी तरह की क्षति होने पर वह रक्तागमनरोध से ग्रस्त हो जाता है जिसके फलस्वरूप स्थानीय अरक्तता (या अल्परक्तता) उत्पन्न हो जाती है, इसीलिये उन्होंने जंतु के वृक्कों में रक्त की आपूर्त्ति कृत्रिम रूप से कम कर दी। यह कोई मुश्किल काम नहीं था : आपरेशन में प्रयोगकर्त्ताओं ने वृक्कीय धमनियों को हल्के क्लिपों से दबा दिया, जिससे वृक्कों में रक्त का आगमन कम हो गया। क्लिपों को कुत्ते के शरीर में ही रहने दिया। कुछ ही समय बाद जानवर में जोर-शोर से अतितान शुरू हो गया ...

यह तो शुरूआत थी। इसके बाद अन्वीक्षकों ने अतितानग्रस्त कुत्ते का रक्त लेकर स्वस्थ कुत्तों में आधान कराना शुरू किया ; फलस्वरूप इन स्वस्थ कुत्तों को भी अतितान होने लगा ! ...

इससे एक बिल्कुल सही निष्कर्ष निकाला गया कि रक्तागम-नरोध से वृक्क में एक द्रव्य बनने लगता है, जो रक्त-दाब ऊँचा कर देता है और उसे ऊँचा बनाये रखता है। इस द्रव्य का नाम पड़ा – रेनीन (अक्षरश: – 'वृक्कीय' ; रेनीन की गणना शुरू-शुरू हर्मोनों में होती थी)।

चूँकि अत्यधिक उपेक्षित अतितान से मृत व्यक्तियों की वृक्कीय कुंभियों में कठोरनी परिवर्तन देखे जाते हैं, इसलिये एक दूसरा – जल्दबाजी का – निष्कर्ष भी दिया गया : अतितान के विकास का दूसरा रास्ता नहीं है, इसलिये वह वृक्क की किसी क्षति का लक्षण मात्र है, किसी ऐसी क्षति का जिसे अभी शायद हम जानते भी नहीं हैं।

बाद में पता चला कि रोगोशरीरलोचकों द्वारा उद्घाटित प्रक्रिया कहीं अधिक जटिल है। रेनीन कोई हर्मोन नहीं है, यह एक बिल्कुल विशेष काम करने वाला खमीर (फर्मेंट) है। वह रक्त में उपस्थित एक प्रोटीन-विशेष के अणु से ऐसे हिस्से को अलग करता है, जो अणु के लिये एक तरह से 'नकेल' का काम करता है। 'नकेल' हटते ही प्रोटीन, जिसे अब आंगियो-टेंजीन (कुंभीतानक) नाम दिया गया है, अपना काम जोर-शोर से शुरू कर देता है (इस तरह का बहुचरणी कार्यरेख कई जीवरसायनिक प्रक्रियाओं में मिला है)।

लेकिन इस खोज से बात बदली नहीं : रेनीन-आंगियोटेंजीनी परिकल्पना कुछ समय तक रोग-विकास की एकमात्र व्याख्या बनी रही, जिसे प्रयोग का समर्थन प्राप्त था।

जब मैं छात्र था, लांग की एक सुंदर किताब प्रकाशित हुई – "अतितान-रोग"। इसमें उनके अनेक वर्षों की खोजों के निष्कर्ष थे और दुख की बात है कि यह उनकी अंतिम कृति थी। पुस्तक को प्रकाशन के लिये उनके शिष्यों ने तैयार किया था, जिनमें अलेक्सांद्र म्यास्निकोव भी एक थे। इसके बाद खुद म्यास्निकोव की भी बड़ी-बड़ी कृतियां प्रकाशित होने लगीं, जिनमें उन्होंने अपने गुरु के विचारों को विकसित किया। इन विचारों के अनुसार अतितानी रोग कुंभी-तंत्र के नार्विक नियमन में गंभीर गड़बड़ियों के कारण उत्पन्न होता है।

लांग छात्र-जीवन से ही क्लासिक नर्ववाद के प्रभाव में रहे थे। उनके गुरु थे पाव्लोव! वे इस रोग का मूल्यांकन 'कुंभिक नर्वक्लेश' के रूप में करते थे। रोग का कारण वे गंभीर वाह्य क्षोभकों – कलही परिस्थितियों, रागात्मक बोझों – की स्पष्ट अभिक्रिया को मानते थे।

अमरीकी वैज्ञानिकों की तरह शुद्ध शरीरलोचनी प्रयोग लांग और म्यास्निकोव ने नहीं किये थे। लेकिन उनके पास तल्पिक सामग्रियाँ बहुतायत में थीं, जिनमें युद्धकालीन लेनिनग्राद की नाकेबंदी के त्रासी दिनों के प्रेक्षण भी शामिल थे। लांग और उनके शिष्यों का उस समय एक विशेष प्रकार के अतितानी रोग से सामना हुआ था, जो बिजली की तरह तेजी से विकसित होता था। इसका नाम भी पड़ा था लेनिनग्रादी अतितान (या नाकेबंदी का अतितान)। भयानक भूख, ठंड, घरों और सड़कों पर फूटते हुए बम, परिवार तथा निकट के व्यक्तियों की मृत्यु, जिन्हें बेदम हुए लोग दफना भी नहीं सकते थे – यह सब लेनिनग्रादवासी झेल रहे थे; इन असामान्य रागात्मक भूचालों की भूमिका निश्चय ही संदेह से परे थी। रोग शुरू होने के पहले मानसिक

चोट और विभिन्न नार्विक बोझ (कम से कम काम पर लंबे समय से तनावपूर्ण स्थिति का ही बोझ) हर रोगी के जीवन में आ चुका था, उनके भी, जो अतितानी रोग के सामान्य रूप से ही ग्रस्त थे। युद्धोत्तर अवधि में रोग ज्यादा प्रबलता से उभरा था – यह दुख, पीड़ा और विभीषिकाओं से भरे जीवन का नतीजा था। इस बात की सत्यता जाँचने के लिये रोगी को बिठाकर उसके जीवन के बारे में सविस्तार पूछताछ करना ही काफी था।

लांग के लिये रोग की विकास-प्रक्रिया को मस्तिष्क-वल्कुट की उन संवृत्तियों से समझाने की चेष्टा बिल्कुल स्वाभाविक थी, जिन्हें पाव्लोव और उनके शिष्यों ने प्रायोगिक नर्वक्लेश का आधार करार किया था। यह नर्वक्लेश उनके प्रयोगाधीन जंतुओं को हो गया था – पहले तो अकस्मात ही, लेनिनग्राद में 1924 की भयानक बाढ़ के वक्त ; इसके बाद वह बारंबार प्रयोग द्वारा मर्जी के अनुसार उत्पन्न किया जाता रहा।

उनके सिद्धांत को अपनाते हुए लांग और उनके बाद म्यास्निकोव ने अपना मत दिया कि अतितानी रोग भी शिरोमस्तिष्क-वल्कुट में होने वाली नार्विक प्रक्रियाओं के अतितनाव का ही परिणाम है ; और परिणाम साधारण नहीं, असाधारण है, क्योंकि इसमें गड़बड़ी मस्तिष्क के वृहत गोलार्ध के वल्कुट तक ही सीमित नहीं रहती, जैसा कि साधारण नर्वक्लेशों में होता है ; वह मस्तिष्क के वल्कुट तले (अधोवल्कुटी भागों में) फैल जाती है। वहां कुंभियों की तानता का नियमन करने वाले नर्व-केंद्रों में स्थायी उद्दीपन विकसित होने लगता है, फिर ये केंद्र अलग-थलग कमांड नहीं भेजते, जो दाब को व्यवस्थित करने के लिये आवश्यक होता है ; वे 'रोगलोचनी स्पंदों' का संतत प्रवाह

भेजने लगते हैं। फलस्वरूप धमनीय दाब स्थायी रूप से ऊँची बनी रहती है।

इसके अतिरिक्त, अंतस्स्रावी ग्रंथियों का कार्य नियंत्रित रखने वाले केंद्र भी रोगलोचनी रूप से उद्दीप्त हो उठते हैं, जिसके कारण अधिवृक्कीय (वृक्कों के ऊपर स्थित) ग्रंथियां अधिक मात्रा में नोर-आद्रेनालीन रक्त में विक्षेपित करने लगती हैं। और दूसरी ग्रंथियां भी अन्य हर्मोन स्रावित करने लगती हैं। यदि इस प्रक्रिया को यथासमय रोका नहीं गया, तो इससे जीव में पदार्थ-विनिमय तेजी से क्षत होने लगता है। इससे धमनियों का कठोरन शुरू हो जाता है। वृक्क रक्तागमनरोध से पीड़ित हो जाते हैं, और इसके बाद ही 'रेनीन-आंगियोटेंजीन तंत्र' कार्यरत हो जाता है... परिणाम: हृदय की महाधमनी के कठोरन और मस्तिष्क की कुंभियों के खीरकठोरन उग्र रूप धारण कर लेते हैं और जितना उपद्रव कर सकते हैं, शुरू कर देते हैं।

तीस वर्ष पहले ये अवधारणाएं सर्वथा पूर्ण मानी जाती थीं। लांग और म्यास्निकोव के विचारों में कई ऐसे तत्त्व थे, जो उनकी गहन दूरदर्शिता का परिचय देते हैं। यह बात और है कि आज, जब हम प्रक्रियाओं की जीवरसायनिक सूक्ष्मताएं समझने लगे हैं, सारी रोग-प्रणाली कुछ दूसरी ही नजर आती है। यह स्वाभाविक भी है।

हमारे यहां उनके कार्यों का बहुत ऊँचा मूल्यांकन हुआ था: लांग को उनकी पुस्तक के लिये (अफसोस की मृत्यूपरांत) राज्य-पुरस्कार से सम्मानित किया गया। इस पुस्तक को और म्यास्निकोव की कृतियों को मैंने छात्र-जीवन में ही पढ़ा था। वे बहुत अच्छी तरह से लिखी गयी थीं: भाषा मनोहर थी,

विचार गठे हुए थे, उनमें शुरू से अंत तक सब कुछ बिल्कुल स्पष्ट लगता था।

अतितान-रोग की कहानी खत्म करने के पहले मैं ये बातें भी बताना चाहूँगा। उस जमाने में सोवियत वैज्ञानिकों की कृतियां विदेशों में अनूदित नहीं होती थीं, इसीलिये वहां लोग इनके बारे में नहीं जानते थे। यहां तक कि 1958 में वृक्कीय अतितान उत्पन्न करने के प्रथम प्रयोग की पचीसवीं सालगिरह पर अमेरिका में जब विशेष कनफरेंस संगठित हुआ, अधिकतर प्रतिवेदनों में यही कहा गया कि पुराने सिद्धांत को अपरिवर्तित रखा जाये। यद्यपि तल्पालयों और प्रयोगशालाओं में इस सिद्धांत का विरोध करने वाले अनेकानेक तथ्य जमा होते जा रहे थे।

बाद में चलकर फोल्कोव (स्वीडेन), हेनरी (संयुक्त राज्य अमरीका) आदि विश्वविख्यात शरीरलोचक भी प्रायोगिक तथ्यों के आधार पर नर्वज-सिद्धांत के निष्कर्ष पर ही पहुँचे। हेनरी ने काफी आश्चर्य भी प्रकट किया कि इस तरह की अव-धारणा सोवियत संघ में 30 वर्ष पहले ही जन्म ले चुकी थी।

पर इस सिद्धांत की प्रायोगिक पुष्टि बहुत लंबे समय तक नहीं हो सकी थी। पहली बार इसकी पुष्टि 1959–1960 में आयुर अकादमी के प्रायोगिक शरीरलोचन और थेरापी संस्थान, सुखूमी, के सहकर्मियों ने प्राप्त की। उन्हें प्रबल नार्विक बोझ द्वारा बंदरों में धमनीय दाब ऊँचा करने और यहां तक कि हृत्पेशी-क्षति उत्पन्न करने में भी सफलता मिली।

फिर भी यदि ईमानदारी की बात की जाये, तो यह सिद्धांत इस स्वाभाविक प्रश्न का उत्तर नहीं दे पा रहा था: क्या कारण है कि समान परिस्थितियों में जी रहे लोगों में से एक में 'कुंभिक नर्वक्लेश' विकसित हो जाता है, दूसरे को कोई

सामान्य नर्वक्लेश हो जाता है, तीसरा व्रण्य रोग से पीड़ित हो जाता है और चौथा भला-चंगा स्वस्थ बना रहता है। (वैसे, इसका सही कारण अभी भी पूरी तरह ज्ञात नहीं है।) इसके अतिरिक्त, धीरे-धीरे यह भी स्पष्ट होने लगा कि शरीर में होने वाले जिन परिवर्तनों से अतितान-रोग विकसित होता है, जिनसे खीरकठोरन, हृत्कुंभी-क्षति और इन्फार्क्त होते हैं, वे 'शुद्ध नार्विक प्रक्रियाओं की शृंखला द्वारा नहीं समझाये जा सकते। एक नये सिद्धांत की आवश्यकता थी, जो सैद्धांतिक और तल्पिक आयुर द्वारा एकत्रित तथ्यों को संश्लिष्ट कर सकता, उन्हें एक सूत्र में बांध सकता।

मेरे गुरु

आपने 'हिप्पोक्रेटस की शपथ' के बारे में सुना है? प्राचीन काल के चिकित्सक यह शपथ ग्रहण करते थे।

"अपोलो-वैद्य, आस्क्लेपियस, ईगिया, पानाकेया और सभी देव-देवियों को साक्षी बनाकर शपथ लेता हूँ..." (अपोलो देवताओं के राजा जेव्स के पुत्र और देवताओं के वैद्य थे; आस्क्लेपियस वैद्यों के देवता थे, उनकी एक बेटी ईगिया सफाई और स्वास्थ्य की देवी थी और दूसरी बेटी पानाकेया चिकित्सा की देवी थी)।

प्राचीन चिकित्सक शपथ लेता था कि वह अपनी सारी शक्ति और कुशलता रोगी की सहायता में लगायेगा। वह प्रतिज्ञा करता था कि रोगी को कोई नुकसान नहीं पहुँचायेगा, उसके साथ कोई अन्याय नहीं करेगा। वह कसम खाता था कि अनुनय करने पर भी किसी को विष नहीं देगा। और लोगों के व्यक्तिगत

जीवन के बारे में जो कुछ देखेगा या सुनेगा, अपना कर्त्तव्य पूरा करते वक्त या सामान्य जीवन में भी किसी के सामने प्रकट नहीं करेगा, ऐसी बातों को वह गोपनीय मानेगा।

"...अपने जीवन और अपनी कला को निष्कलंक और पवित्र रखूंगा..."—शपथ अच्छा था, क्यों?

इसमें चिकित्सक सबसे पहले प्रण करता था: "...मुझे वैद्यक कला सिखाने वाले को पिता-तुल्य मानूंगा, उसके साथ अपनी संपत्ति बाँटकर भोग करूंगा, आवश्यकता पड़ने पर उसकी सहायता करूंगा, उसकी संतान को अपने भाई के समान मानूंगा, यदि वे यह कला सीखना चाहेंगे, उन्हें बिना किसी धन के, बिना किसी शर्त्त के पढ़ाऊंगा..."

पिछली शती में प्रायोगिक आयुर के जन्मदाता फ्रांसीसी डाक्टर क्लोड बेर्नार (Bernard) एक बहुत अच्छा वाक्य बोल गये थे: "आयुर इतना विस्तृत विज्ञान है कि वह ज्ञान के सभी क्षेत्रों को अपने में समाहित करता जा रहा है।" ठीक ही कहा है—सभी क्षेत्रों को: जीवलोचन को, रसायन को, भौतिकी को! अन्यथा वह सूक्ष्म जीवन-प्रक्रियाओं को, रोगों के कारणों और उनकी विकास-विधि को समझ ही नहीं पायेगा।

लेकिन साथ ही आयुर एक कला भी है। यह चिकित्सा संबंधी सूक्ष्म अवलोकन और मानवीय संपर्क की कला है। इसके बारे में सबसे सुंदर फ्रांसीसी लेखक आंतुआन दे सेंत एक्जुपेरी ने कहा है: "मुझे विश्वास है कि ऐसा दिन भी आयेगा जब किसी रोग से ग्रस्त व्यक्ति अपने को भौतिकविदों के हाथों सुपुर्द कर देगा। ये भौतिकविद उससे बिना कुछ पूछताछ किये, उसका रक्त लेंगे, लघुगणकों की सारणी से मेल बिठायेंगे, और एक ही गोली से उसे ठीक कर देंगे। फिर भी यदि मैं बीमार पड़ूंगा,

तो मैं किसी बूढ़े ग्रामीण डाक्टर के पास ही जाऊंगा। वह मुझ पर एक नजर डालेगा, नाड़ी और पेट टटोलेगा, स्टेथोस्कोप लगाकर सुनेगा, फिर खाँसेगा, ठुड्डी रगड़ता हुआ मेरी ओर देखकर मुस्कुरायेगा – दर्द हल्का करने के लिये। बेशक मैं विज्ञान का कायल हूँ, पर मैं विवेक का भी कायल हूँ।" और विवेक गुरु से ही मिलता है।

...जब लोग मुझसे पूछते हैं कि मैं हृदलोचक ही क्यों बना, कब से मैं इसके सपने देखने लगा, तो मेरा उत्तर उन्हें निराश कर देता है। मैं अपने कार्य-क्षेत्र के रूप में हृदलोचन को चुन ही नहीं सकता था, क्योंकि जब मैं पढ़ रहा था, उस समय ऐसी कोई विशेषज्ञता थी ही नहीं। और वैज्ञानिक बनने का भी कोई सपना मैंने नहीं देखा था। मैं एक अच्छा और योग्य विद्यार्थी था, लेकिन मैं बनना चाहता था – सिर्फ चिकित्सक। थेरापक और कुशल निदानक। सिर्फ थेरापक ही, क्योंकि आंतर रोगों की चिकित्सा के लिये ऐसी समस्याओं को हल करना पड़ता है, जिसमें ढेर सारी बातें अज्ञात रहती हैं। ऐसे लक्षणों का विश्लेषण करना पड़ता है, जो मुश्किल से नजर आते हैं। उनकी तुलना करनी पड़ती है, उनका संश्लेषण करना पड़ता है। परिकल्पनाएं रचनी पड़ती हैं। फिर उन्हें सही या गलत सिद्ध करने की कुशलता चाहिये। यदि वह गलत निकली, तो दूसरी, सही परिकल्पना ढूंढनी चाहिये। फिर आयुर में ऐसा कोई क्षेत्र नहीं है, जिसका संबंध थेरापी के साथ न हो। कोई भी सच्चा डाक्टर पहले थेरापक ही होता है। करोर्जक को विशेष परिस्थितियों में, सामान्यतया किसी खतरनाक निदान की जाँच के लिये, आपरेशन की सलाह दी जाती थी। पर थेरापक को हमेशा ही शरीर के ऊतकों की अक्षुण्णता बचाये रखकर निदान करना पड़ता था। और इलाज

करना पड़ता था। चिकित्सा की सफलता को ही उसके निदान की सत्यता प्रमाणित करनी थी।

डाक्टर की चिंतन-प्रणाली दार्शनिकों जैसी जटिल और रोचक होती है। विशेषकर वह 'निर्विलंब सहायता' के डाक्टरों और संजीवकों (रीएनीमेटरों) में और भी सूक्ष्म होती है। उन्हें चंद मिनटों में ही आवश्यक सूचनाएं जमा करके निदान करना पड़ता है, प्राण-रक्षा करनी पड़ती है! छात्र-जीवन के चौथे-पाँचवें वर्ष मैं 'निर्विलंब सहायता' में ही काम करता था। वहां बहुत कुछ देखा-सुना, अनुभव किया। इस काम ने ही मुझमें जटिल नैदानिक समस्याओं के प्रति रुचि जगायी थी।

लेकिन ऐसा हुआ कि डिग्री मिलने के बाद मैं प्रथम मास्को चिकित्सा-संस्थान के अस्पताली थेरापी विभाग में तल्पिक परिचर चिकित्सक का काम करने लगा। विभाग के अध्यक्ष अलेक्सांद्र लेओनीदोविच म्यास्निकोव थे, जो मेरे लिये एकमात्र तो नहीं, पर मुख्य गुरु जरूर हो गये।

इन परिस्थितियों ने मेरा भविष्य निश्चित कर दिया।

...'परिचर' छोटे डाक्टर को कहते हैं, जो किसी बड़े डाक्टर के निर्देशों पर काम करता है। 'तल्पिक परिचर' से तात्पर्य है कि परिचर को तल्पालय में एक नियत अवधि पर लिया गया है, जिसमें वह अपनी ड्यूटी के अतिरिक्त वहां काम करने वाले शिक्षक के अधीन अपना वृत्तिक विकास भी करे।

तल्पालय के जिस विभाग में मुझे काम दिया गया, उसके अध्यक्ष डोसेंट मित्रोफान पांचेन्कोव थे। उनसे मैंने चिकित्सा संबंधी इतनी काम की बातें सीखीं, जितनी किसी भी पाठपुस्तक में नहीं मिल सकतीं। वे सफेद बालों वाले ऊँचे कद के आदमी थे। वे ठीक वैसे ही डाक्टर थे, जिसके बारे में एक्जूपेरी ने लिखा

था। उन्होंने मुझे बहुत सी बातें सिखायीं, लेकिन इनमें सबसे मुख्य चीज थी – रोगी को समझना। यह मुझे छात्र-जीवन में भी सिखाया गया था, पर पूरे समूह में यह सीखना एक बात थी और ऐसे अनुभवी डाक्टर से अकेले रोगी की चारपाई के समीप सीखना दूसरी बात थी। वे जो कुछ भी करते थे, रोगी के लिये और अपने शिष्य के लिये: वह दिखाते थे कि कैसे रोगी के साथ काम करना चाहिये, कैसे उसका वृत्तांत और मनोविज्ञान समझना चाहिये। किसी भी बीमारी में चौथाई कष्ट और चौथाई इलाज रोगी के मनोविज्ञान पर ही निर्भर करते हैं! स्नेह भरे हार्दिक शब्दों की आवश्यकता और कीमत महसूस करनी चाहिये। और इसकी भी कि एक अतिरिक्त सूई से रोगी पर क्या प्रभाव पड़ेगा, या इस निर्णय का कि रोगी को कोई दवा कुछ कम मात्रा में ही दे दी जाये, चाहे वह कितनी भी आवश्यक क्यों न हो। इतनी ढेर सारी सूक्ष्मताएं हैं कि उनका नाम गिनाना भी संभव नहीं है। लेकिन रोगी के साथ संपर्क का यह एक ही पक्ष हुआ। दूसरा पक्ष भी है, जो सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसे बोत्किन के शब्दों में निम्न प्रकार से व्यक्त किया जा सकता है: "रोगी सभी आधुनिकतम विधियों से संपन्न वैज्ञानिक अन्वीक्षण का विषय है।"

उस समय, 30 वर्ष पहले, अलग-अलग आयुरी समस्याओं का अध्ययन करने वाले विशेष वैज्ञानिक अन्वीक्षक संस्थान आज से दो गुना कम थे। और वैज्ञानिक केंद्रों के रूप में शैक्षिक आयुरी संस्थानों की भूमिका आज से कहीं ज्यादा थी। प्रथम मास्को आयुरी संस्थान में उस समय विख्यात वैज्ञानिकगण काम कर रहे थे, जिनमें प्रमुख थे अनाटोमीविद ज्दानोव, जीवरसायनविद मार्दाशेव, नर्वरोगलोचक सेप, करोर्जक सालिशेव और येलांस्की,

प्रसूतक मालीनोव्स्की, प्रतिभाशाली थेरापक वसीलेन्को, विनो-ग्रादोव तथा म्यास्निकोव। ये सभी अपने-अपने विषयों के माहिर थे, वैज्ञानिक चिंतन की दिशा और उसका सामान्य स्तर उन्हीं के द्वारा निर्धारित होता था। युवाजनों को भी, जो उस समय संस्थान में अध्ययन और काम कर रहे थे, वैज्ञानिक खोजों में प्रतियोगिता का नशा चढ़ा रहता था। पैसों के लिये नहीं, कैरियर के लिये भी नहीं, विज्ञान के लिये। अपने काम में प्रथम होने का गौरव प्राप्त करने के लिये, जो एक सुंदर मानवीय भावना है। सुंदर इसलिये कि ऐसी भावना को तुष्ट करने के लिये श्रम की आवश्यकता होती है।

म्यास्निकोव के तल्पालय में सृजनात्मक कार्य का नशा मुझे लगता है कि कुछ ज्यादा ही था। शुरू-शुरू मुझे वहां काफी मुश्किल हुआ क्योंकि जिस संस्थान में मैं पढ़ा था, वहां जीवन-धारा काफी शांत थी ; वहां अच्छे अध्यापक थे, कुछ तो विख्यात थेरापक थे, फिर भी, उदाहरण के लिये, विद्युहृदलेखन हमें मोटा-मोटी ही पढ़ाया गया था। वहां यह माना जाता था कि ज्यादातर भावी डाक्टरों को इसकी जरूरत ही नहीं पड़ेगी, उस समय इसका उपयोग आज जितना विस्तृत नहीं था। लेकिन तल्पालय में प्रथम रोग-वृत्त में ही नुकीले दाँतों जैसे वक्र से भरे फीते का मोटा सा लच्छा मिल गया। और वक्र क्या व्यक्त करते हैं, मुझे पढ़ना आता नहीं था। एक-दो दिन बाद प्रोफेसर द्वारा रोगियों के रोगों का नियमित विश्लेषण शुरू हो गया, जिसमें मुझे कभी-कभी बिल्कुल ही समझ में नहीं आता था कि मेरे सहकर्मी क्या बातें कर रहे हैं। मैं प्रथम श्रेणी के अंक प्राप्त करने वाला छात्र था, पर पता चला कि मुझे कुछ भी नहीं आता।

लेकिन यह बहुत ही अच्छी बात थी कि मैं अपनी कमजोरी

महसूस करने लगा। मैंने तुरंत स्वाध्याय शुरू कर दिया, ताकि अपनी उच्च शिक्षा की त्रुटियां दूर कर सकूं। साथ ही, अपने ज्ञान में कमी ढूंढते रहने की आदत भी बना ली। चूँकि कोई चीज न जानने पर मैं पूछने में कभी झिझकता नहीं था, इसलिये मेरे वरिष्ठ सहकर्मी खुशी-खुशी मेरी सहायता करने को तैयार रहते थे। 'रोगी के वैज्ञानिक अन्वीक्षण' की तत्कालीन नवीन विधियों से, विशेषकर प्रयोगशाला-विधियों से, मेरा परिचय उनके गहरे हिमायती अलेक्सेई विनोग्रादोव ने कराया। ये म्यास्निकोव के मेधावी शिष्यों में से एक थे; इन्हें सही माने में 'आधुनिक चिकित्सा का आदमी' कहा जा सकता था। पांचन्कोव रोगी के साथ काम करना सिखाते थे, विनोग्रादोव यह बताते थे कि किसी जीवरसायन विषयी सूक्ष्म बात के बारे में क्या पढ़ना चाहिये, किस चीज के बारे में, किस दिशा में सोचना चाहिये। मेरा भाग्य अच्छा था कि मुझे बिल्कुल भिन्न विचार-धाराओं वाले डाक्टरों के साथ काम करने का अवसर मिला।

पर ज्यादा समय नहीं बीता, परिचर डाक्टरी के प्रथम वर्ष ही मुझे तूला नगर के क्षेत्र के एक ग्रामीण अस्पताल में भेज दिया गया। उस समय हर तल्पिक परिचर-चिकित्सक के लिये गाँव में काम करना आवश्यक था – अफसोस कि अब यह परंपरा नहीं रही। तल्पालय के बाद गाँव में आदमी ऐसी परिस्थितियों में पहुँच जाता है, जहां उसके पीठ पीछे कोई मदद करने वाला नहीं रह जाता। वहां सचमुच महसूस होने लगता है कि तुम डाक्टर हो। अपने रोगियों के जीवन के प्रति उत्तरदायित्त्व कितना बड़ा भार है! सब कुछ सिर्फ तुम पर निर्भर करता है, तुम्हारे ज्ञान और तुम्हारी अकलमंदी पर निर्भर करता है। वहां वैसे उपकरण नहीं हैं, जिनका उपयोग अभी-अभी सीखा था; दवाएं

सिर्फ मानक हैं, वह भी अधिक मात्रा में नहीं, फिर भी अपना कर्त्तव्य पूरा करना ही पड़ता है।

वह समय भी कठिन था। अस्पताल अक्सर रेल और सड़क से बीस-बीस किलोमीटर दूर होता था। अस्पताल के कार्य-क्षेत्र की सीमा पर स्थित गाँव भी बीस किलोमीटर से कम दूर नहीं थे। मोटर-गाड़ी नहीं थी। सड़कें खराब थीं, वह भी बर्फ से ढकी हुई। ज्यादातर रोगी अस्पताल तक आने में असमर्थ रहते थे, खुद उनके पास जाना पड़ता था। सुबह से ही अस्पताल के घोड़े को जोत देते थे, ताकि मैं दिन रहते वापस लौट सकूं। दूर-दूर अपने रोगियों के यहां जाता था। उनका इलाज करता था। अचानक – अपने डाक्टरी जीवन में पहली बार – मैं एक आदमी के लिये कुछ भी नहीं कर पाया। हो सकता है कि इसी घटना ने मुझे हृदलोचन के इतना निकट ला दिया।

... बुलाहट पर पहुँचता हूँ। रोगी करीब पचास साल का आदमी है। छाती की हड्डी के पीछे दर्द, ठंडा पसीना, मंद और क्षीण नाड़ी, गिरा हुआ धमनी-दाब – शायद इन्फार्क्त था। उसे हृत्कुंभिक अपूर्णता की अवस्था से निकालने की कोशिश करता हूँ – अंतर्शिरीय आधान करता हूँ। उसकी हालत बदतर हो रही है। मैं कोई और सूई देता हूँ। रोगी बेहोश हो जाता है, अचानक मैं देखता हूँ कि उसके हाथ को लकवा मार गया है। यह क्या बात हुई? क्या यह हृत्कुंभिक कार्यों में गड़बड़ी का फल है? या यह वास्तविक घात था?... काश कि विद्युहृदलेख लिया जा सकता! लेकिन वह साथ नहीं है। अस्पताल में भी नहीं है। कई घंटों तक परेशान रहा। संस्थान में जितनी विधियां सीखी थीं, सबको याद कर लिया। हृदय पर असर करने वाले जितने भी प्रसाधन थे, सबका उपयोग करके देख लिया। लेकिन

उसकी मृत्यु हो गयी ... कितना मन कचोटता है, जब आदमी मर रहा होता है और आपके दिमाग में रहता है: "काश कि हृदलेख लिया जा सकता, शायद अधिक सही निदान कर लेता। या कोई नवीनतम दवा होती, जिसका संस्थान में परीक्षण किया था, शायद रोगी और जी लेता!" मृतक के सगे-संबंधी पास ही खड़े हैं। मैं नजर नहीं उठा पा रहा हूँ। अचानक मेरे कानों में ये शब्द आते हैं: "डाक्टर, इतना दुखी मत होओ! हमने खुद देखा है कि उसे बचाने के लिये आपने कोई भी कसर नहीं छोड़ी थी"। रूसी दयालु लोग सचमुच आश्चर्यजनक रूप से समझदार होते हैं!

मुझे तीस वर्ष के कार्य-काल में हजारों व्यक्तियों की जान बचाने में सफलता मिली है। मैंने कई नयी विधियों का प्रयोग शुरू किया है, जिसकी सहायता से मेरे शिष्य और अनेक अनजान डाक्टर हजारों रोगियों की जान बचा चुके हैं। फिर भी सफलता के क्षण कम ही याद आते हैं, बनिस्बत कि वे क्षण, जब मैं बेबस था।

एक और उदाहरण: टेलीफोन पर मुझे एक गाँव में बुलाया गया। मुश्किल से वहां पहुँचा, क्योंकि हिम-धूल की तेज आंधी चल रही थी। रोगी, पचीस वर्षीय ट्रैक्टर-चालक का जठर-व्रण खुल गया था। एक ही उपाय था – निर्विलंब आपरेशन। जिला अस्पताल में फोन किया कि वे गाड़ी भेजें। पर उस हिम-आंधी में वहां के रास्तों पर गाड़ी चल ही नहीं सकती थी। किसे नहीं फोन किया था! अंत में याद नहीं कहां से एक ट्रैक्टर आया, उसके साथ स्लेज-गाड़ी बंधी थी, जिस पर रोगी को लिटाकर कुरास्ते से जिला अस्पताल ले गये। चार घंटे का रास्ता था, और अस्पताल पहुँचने पर पता चला कि आपरेशन के

लिये बहुत देर हो चुकी है। उसे पर्युदर्याशोथ – पेट की दीवार में शोथ – हो गया था। ... मैं क्या करता? मैं करोर्जक नहीं था। और मेरे अपने अस्पताल तक रोगी को लाने में कुछ कम समय थोड़े ही लगता। फिर इस तरह के पर्युदर्याशोथ का उस समय इलाज था भी नहीं। परिस्थितियों का दोष था। लेकिन आदमी तो नहीं रहा न! मन को लाख समझाते रहो, घटना भुलायी नहीं जाती।

किसी की जिंदगी की जिम्मेदारी बहुत निर्दय और कठोर होती है।

... बहुत साल बाद की बात है, एक चालीस वर्षीया महिला की मेरे सामने मृत्यु हो गयी – इन्फार्क्त से। मुझे तल्पालय के अतिथि-कक्ष में जाना पड़ा – संबंधियों को उसकी मृत्यु की खबर देने।

वहां आकर पूछता हूँ: "इवानोवा के घर से कौन है?" जवाब में सुनता हूँ: "हम हैं।" और मेरे पास एक बारह वर्ष का लड़का और ग्यारह वर्ष की लड़की आ गये। "क्या और कोई नहीं है?" – मैंने पूछा। बच्ची ने जवाब दिया: "नहीं। सिर्फ हम और माँ।"

मेरे डाक्टरी जीवन का यह सबसे कटु अनुभव था। इसे भूला नहीं जा सकता। इसके बारे में सोचना बंद ही नहीं होता।

... तुम इलाज करते हो, रोग, निदान और दवाओं के बारे में सोचते हो। लेकिन जिस आदमी का इलाज कर रहे हो, उसका परिवार है, उसके बच्चे हैं, माता-पिता हैं। उनके लिये वह एकमात्र है, अद्वितीय है। सब उसपर आश्रित हैं। इसका मतलब है कि उसके जीवन के लिये तुम्हें वैसे ही संघर्ष करना चाहिये, जैसे अपने लिये। इसमें अपने को सांत्वना नहीं दे सकते

कि विज्ञान सर्वशक्तिमान नहीं है, या परिस्थितियां प्रतिकूल थीं। और यदि अंतिम क्षण तक तुम वह सब नहीं कर सके, जो कर सकते थे – अपनी अंतरात्मा के समक्ष तुम कोई बहाना नहीं निकाल सकोगे। एक कहावत है: "डाक्टर अपने हर रोगी के साथ मरता है" – पुरानी है पर बिल्कुल सही है।

यह तो हम लोगों ने डाक्टरी जीवन के उन पक्षों की बात की, जो अक्सर अंधेरे में रहते हैं। पर उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। जो इस पेशे में आना चाहता है, उसे जानना चाहिये कि उसका जीवन सरल नहीं होगा। जब तल्पालय लौटा, तो मैं बिल्कुल दूसरा आदमी था। वार्ड-चिकित्सक के रूप में मेरा अपना काम, प्रोफेसर और विभागाध्यक्ष द्वारा रोगियों का निरी-क्षण, सहकर्मियों द्वारा की गयी वैज्ञानिक खोजों पर वाद-विवाद – यह सब मेरे लिये सिर्फ सीखने और पढ़ने-पढ़ाने की चीज नहीं रह गयी थी, अब मैं उनकी आवश्यकता महसूस कर रहा था। गाँव में काम करने के पहले मैं छात्र जैसा ही रह गया था। जिन रोगियों की देखभाल मुझे सौंपी जाती थी, वे लगते थे कि मेरे 'अपने रोगी' नहीं हैं। हर काम में अपने से बड़ों का मुँह देखता था कि उनकी प्रतिक्रिया क्या है: मैं ठीक कर रहा हूँ या गलत। लेकिन अब मैं जिस रोगी के पास पहुँचता था, वह मुझे अपना लगता था, मानो इर्द-गिर्द और कोई डाक्टर है ही नहीं। मेरे सभी निर्णय मेरे व्यक्तिगत होते थे, मुँहदेखे नहीं। मैं अपने निर्णयों पर अड़ने को तैयार रहता था (यह बात और है कि कई बार मुझे अपनी गलती भी माननी पड़ती थी)। किसी भी सैद्धांतिक समस्या के बारे में यदि मेरे पास आवश्यक सूचनाएं जमा हो जाती थीं, तो मैं उसके बारे में अपने विचार प्रकट करने में झिझकता नहीं था। मैं अब एक परिपक्व डाक्टर हो

अलेक्सांद्र म्यास्निकोव

चुका था। तल्पालय में दूसरी तरह से जीया भी नहीं जा सकता था – अलेक्सांद्र म्यास्निकोव के जीने और सोचने का ढंग वहां इस तरह से छाया हुआ था।

...वे मजाकियल और दयालु व्यक्ति थे। वे जीवन को उसकी सभी खुशियों के साथ प्यार करते थे। वे कला को आँकना जानते थे, उनके पास चित्रों का अच्छा संग्रह था। वे संगीत-प्रेमी भी थे, एक भी महत्त्वपूर्ण कंसर्ट नहीं छोड़ते थे। उनकी अपनी कमजोरियां और अपनी सनकें भी थीं – प्रतिभा के साथ ये आ ही जाती हैं। वे कुशल डाक्टर थे, बहुत बड़े वैज्ञानिक थे और मुझे विश्वास है कि अभी तक हम उनका पूर्ण मूल्यांकन नहीं कर पाये हैं। और लेक्चर कितना अच्छा पढ़ते थे! कक्षा

में वे एक अभिनेता की तरह थे। उनकी आवाज – उनकी स्वरशैली और भाव-भंगिमा भी एक कलाकार की तरह ही थी। यहां तक कि अपने थेरापक और निदानक के काम को भी वे नाटकीयता का पुट प्रदान करते थे।

किसी भी तल्पालय का कार्य छात्रों और नये डाक्टरों की शिक्षा के पाठक्रम तथा उनके वैज्ञानिक खोज-विषयों पर निर्भर करता है, इसीलिये सामान्य अस्पताल की तरह तल्पालय में सभी रोगियों को प्रविष्टि नहीं मिलती, यहां ऐसे रोगियों को चुना जाता है, जो यहां के काम के लिये आवश्यक होते हैं। 'अस्पताली थेरापी' आंतर रोगों के छात्रों की शिक्षा में तीसरा और अंतिम चक्र है। यह परिष्कृत थेरापी का पाठक्रम है, इसमें नैदानिक जटिलताओं का अध्ययन होता है। इसीलिये हमारे तल्पालय में ऐसे रोगियों को प्रवेश देने की कोशिश की जाती थी, जिन्हें कोई दुर्लभ बीमारी हो, या यदि सामान्य बीमारी हो तो अस्पष्ट या असामान्य रूप में हो, जिसकी चिकित्सा सर्वमान्य विधि से नहीं हो पा रही हो।

तल्पालय की तरह हमारे यहां भी सप्ताह में कुछ दिन नियत होते हैं, जब प्रोफेसर रोगियों का निरीक्षण करते हैं। अलेक्सांद्र म्यास्निकोव अपने कलीगों, शोध-छात्रों और परिचर चिकित्सकों के साथ नये और कठिन रोगियों का निरीक्षण करते थे, इसके बाद हर केस का विश्लेषण शुरू होता था – आम सभा में, धूमधाम के साथ, जो मेरा खयाल है, सही भी था। यह सार्वजनिक थेरापिक सृजना थी, जिसमें म्यास्निकोव और उनके निकटस्थ कलीग सभी को शामिल करने की कोशिश में रहते थे, यहां तक कि सबसे युवा परिचर-चिकित्सक को भी अपने को दिखाने का मौका देते थे।

चूँकि पहले से ही ज्ञात रहता था कि कल या परसों प्रोफेसर किस रोगी को देखेंगे और किस तरह के निदान की आशा है, हम पहले से ही विशेष पुस्तकों और निबंधों के सैकड़ों पृष्ठ पढ़कर अपने को तैयार करते थे। अपने कलीगों को किसी नयी परिकल्पना से आश्चर्यचकित करने की कोशिश करते थे, जिसे किसी नयी पत्रिका में पढ़ते थे या खुद रचते थे। म्यास्निकोव सबसे जटिल समस्याओं पर लोगों का ध्यान केंद्रित रखना पसंद करते थे। यदि वे किसी ऐसी समस्या का भेद खोलने में सफल हो जाते थे, जिसे उनके या अन्य तल्पालयों के धाकड़ कलीग भी नहीं समझ पाये थे, तो वे ऐसी परिस्थिति का विशेष आनंद भी लेते थे। जब हम सभी सोचने लगते थे कि किसी बीमारी का भेद खुल ही नहीं सकता, तो वे अक्सर अप्रत्याशित विचार प्रस्तुत करके कोई न कोई काम लायक परिकल्पना बना लिया करते थे।

वे दूसरों के वैज्ञानिक शोध-कार्यों में भी अपने नये-नये विचार भरने में कभी कंजूसी नहीं करते थे। उनके साथ काम करना पुराने डाक्टरों के लिये भी सहज था और नये के लिये भी। तभी तो हमारे तल्पालय ने प्रोफेसर विनोग्रादोव, पालेयेव, स्मोलेंस्की तथा मांसूरोव, सोवियत आयुर अकादमी के पत्र-सदस्य किपशिजे तथा लोगिनव, अकादमीशियन यानुश्केविचुस जैसे अनेक अन्य सशक्त तल्पविदों, हृदलोचकों, जठरांत्रलोचकों, फुप्फुसलोचकों आदि विशेषज्ञों को जन्म दिया। थेरापिक संस्थान में भी म्यास्निकोव के कई अच्छे शिष्य थे। यह हमारा बहुत बड़ा सौभाग्य था कि हमारी जो भी वैज्ञानिक रुचि रही हो, तल्पालय में डाक्टर के रूप में हमें सभी रोगों का अध्ययन करना पड़ता था – हृदय और वृक्क का, यकृत और जठर का, रक्त का,

फुप्फुस का (टी. बी. रोग को छोड़कर, क्योंकि इसके लिये बिल्कुल अलग विभाग था)। मेरा गहरा विश्वास है कि किसी एक प्रकार के रोगों का अच्छा विशेषज्ञ तभी प्राप्त होता है, जब वह विस्तृत क्षेत्रों का डाक्टर होता है।

पुराने प्रतिभावान रूसी डाक्टर ठीक ही कहा करते थे कि हृदय बीमार नहीं होता -- बीमार आदमी होता है और इलाज बीमारी का नहीं, बीमार का करना चाहिये। डाक्टर जितने ही भिन्न रोगों वाले रोगियों का इलाज करता है, वह शरीर की उतनी ही भिन्न प्रतिक्रियाओं का ज्ञान प्राप्त करता है, इसीलिये आने वाली जटिल स्थितियों में वह रोग और रोगी को और भी अच्छी तरह से समझने की क्षमता विकसित करता है। हमारे प्रथम हृदलोचक – लांग और स्त्राझेस्को, विनोग्रादोव, लुकोम्स्की, म्यास्निकोव – शुरू में कुशल सामान्य थेरापक ही थे। हृदय का करोर्जन शुरू करने वाले बाकूलेव, कुप्रियानोव, विश्नेव्स्की, पेत्रोव्स्की, मेशाल्किन, अमोसोव आदि भी पहले सामान्य करोर्जक थे। मैं अपने तल्पालय के प्रति कृतज्ञ हूँ, जिसमें मैं अपने ज्ञान का विकास कर सका, और अपने शिक्षकों तथा मित्रों के प्रति भी, जिन्होंने कुशल थेरापक बनने में मेरी सहायता की।

हमारा जीवन बहुत रोचक था। औषधलोचकों के पास उनकी नयी खोजों के बारे में जानने जाते थे, उनसे नयी दवाएं लेते थे – हमें हमेशा ही अपने हाथों उसका प्रथम उपयोग, प्रयोग और मूल्यांकन करने तथा उपयोग का अनुभव जमा करने की जल्दी रहती थी।

मुझे याद है, जब मैं परिचर-चिकित्सक ही था, लेनिनग्राद से पहली बार डीबाजोल लाया गया (अब तो यह एक सामान्य दवा है)। इसे प्रोफेसर पोराई-कोशित्स के अधीन रसायनविदों ने

संश्लिष्ट किया था और दो औषधलोचनी प्रयोगशाला में इसका अन्वीक्षण समाप्त होते ही इसे हमारे पास तल्पिक जाँच के लिये भेज दिया गया।

हमारे यहां ऐसे रोगी पड़े थे, जिनका दाब घंटों तो क्या, दिन-दिन भर की कोशिशों के बावजूद नहीं उतर पा रहा था। डीबाजोल की एक अंतर्शिरीय सूई लगाते ही अतितान-संकट दूर हो जाता था।

दो वर्ष बाद इसी तरह विनोग्रादोव एक अन्य प्रयोगशाला से मेजाटोन ले आये। रोगी निपात (कोलैप्स) – गंभीर कुंभिक अपूर्णता – की अवस्था में पड़ा है: चेहरा पीला है, ठंडा पसीना आ रहा है, नाड़ी मुश्किल से मिल रही है, दाब निर्धारित नहीं हो पा रहा है। इस दवा का प्रयोग करते ही चेहरे का रंग सामान्य होने लगता है, तानमापी ठीक-ठाक धमनीय दाब दिखाने लगता है। एक मिनट पहले डाक्टर बेबस था, अब अचानक उसके हाथ 'अमृत' आ गया है!... वैसे, 'अमृत' होता नहीं है। बहुत सी दवाओं को पहले चमत्कारी मानते थे, पर विभिन्न कारणों से वे डाक्टरों को निराश करने लगीं। लेकिन अतितान के विरुद्ध दवा के रूप में डीबाजोल और निपात विरोधी मेजाटोन का भाग्य अच्छा निकाला। वे आज भी अच्छी तरह काम आ रहे हैं।

चूँकि चारों ओर सभी लोग वैज्ञानिक कार्य में कसकर लगे हुए थे, मुझे भी कोई गंभीर काम अपने हाथ लेने की इच्छा हुई, यद्यपि परिचर-चिकित्सक की स्थिति के अनुसार मेरे लिये यह जरूरी नहीं था। मैंने हिम्मत बाँधी और म्यास्निकोव के पास जाकर पूछा: "अलेक्सांद्र लेओनीदोविच, क्या आप मुझे कोई शोध-विषय नहीं सुझा सकते?" वे मुझे मेरे साथ तल्पालय

॥ आये अन्य शोध-छात्रों और परिचर-चिकित्सकों की तुलना ॥ कम ही जानते थे, इसके अतिरिक्त कुछ महीनों से तो उन्होंने मुझे देखा तक नहीं था ; मैं ग्रामीण अस्पताल में काम करने गया हुआ था। मैं नहीं सोचता कि वे मुझसे प्रभावित हुए थे। उल्टा, वे सोच रहे थे कि मैं काम बीच में ही छोड़ दूंगा।

उन्होंने मेरी झुकावों और प्रवृत्तियों के बारे में पूछताछ की। वे बहुत प्रसन्न हुए कि मैं जीवरसायन में रुचि रखता हूँ। अंत में शांत मुस्कान के साथ बोले : "आप जानते हैं कि रूमैटिज्म (गठिया) हमारे लिये अभी महत्त्वपूर्ण समस्या है। कोई भी ठीक-ठीक नहीं जानता कि इस रोग में क्या होता है। कोशिश कीजिये, शायद आप इसकी गहराई में पहुँच सकें। रूमैटिज्म में मूकोपोलीसाखारीद की अवस्था का अध्ययन शुरू कर दीजिये"।

मूकोपोलीसाखारीद संयोजक ऊतकों में एक महत्त्वपूर्ण द्रव्य है। जैसा कि पहले मानते थे, और अब सिद्ध किया जा चुका है, इसी में परिवर्तन के साथ रूमैटिक प्रक्रिया शुरू होती है। युद्धोपरांत काल में थेरापकों के लिये रूमैटिज्म वैसी ही तीव्र समस्या थी, जैसा आज हृदय में रक्तागमनरोध है। रूमैटिज्म के तीव्र और चिरकारी रूप, हृदय-कपाट की गंभीर क्षति और हृत्कुंभिक अपूर्णता के उग्र रूपों के साथ रोगी महीनों तक अस्पताल में पड़े रहते थे (पुराने डाक्टर कहा करते थे : रूमैटिज्म अस्थि-संधियों को चाट जाता है और दिल को खोखला कर देता है)। रोगियों को कई-कई बार अस्पताल और तल्पालय लौटना पड़ता था। वे बचपन या किशोरावस्था में रोग-ग्रस्त होते थे। उनकी कुछ सहायता की जाती थी, फिर भी वे जिंदगी भर अस्वस्थ ही रहते थे। करोर्जक हृदय के रूमैटी विकारों का आपरेशन से

इलाज करने का रास्ता अभी ढूँढ़ ही रहे थे। और थेरापक जटिल संक्रामक-एलर्जिक प्रक्रियाओं से अंधेरे में संघर्ष कर रहे थे, क्योंकि इनकी कार्य-विधि स्पष्ट नहीं थी।

अलेक्सांद्र म्यास्निकोव ने जिस समस्या के अध्ययन का प्रस्ताव रखा था, वह मूर्त्त और स्पष्ट थी। मैं तुरंत काम में लग गया। किताबें जमा कीं, जीवरसायनिक विधियों का अध्ययन शुरू कर दिया। आवश्यक उपकरण स्वयं जोड़कर बनाया – काँच का बरतन बनाने वाले के पास गया, नलियों को मोड़ना और फुलाना सीखा। म्यास्निकोव के पास मैं कोई भी समस्या या अनुरोध लेकर नहीं गया। बाद में मेरे अधीन शोध-छात्र काम करने लगे, वे अब खुद वैज्ञानिक हैं, उनके अपने शिष्य हैं। मुझे आश्चर्य होता है कि मैं कितना उनके पीछे पड़ा रहता था। आज भी अपने अब के शिष्यों को दसियों बार बुलाता हूँ, सलाह देता हूँ कि वे यह काम पूरा करें, वह काम पूरा करें। और वे जवाब देते हैं कि अमुक प्रतिकारी द्रव्य के बिना उनका काम आगे नहीं बढ़ सकता, अमुक उपकरण उनके पास नहीं है। दरखास्त लिखता हूँ। टेलीफोन उठाता हूँ: "उपकरण चाहिये" या "विदेश से उपकरण मंगाने के लिये धन-राशि चाहिये"। क्या मैं यह ठीक कर रहा हूँ?... अलेक्सांद्र म्यास्निकोव कड़ाई के साथ इस सिद्धांत का पालन करते थे कि किसी को भी उंगली पकड़कर नहीं चलाना है। यदि कोई ऐसी समस्या उठ ही जाये कि म्यास्निकोव को छोड़कर और कोई उसे हल नहीं कर सकता, तब उनके पास जाया जा सकता था। और नहीं, तो सब खुद करो, खुद सोचो। यदि आत्मनिर्भर नहीं हो, तो कैसे वैज्ञानिक बनोगे!...

दो वर्ष के कुछ बाद अपने अन्वीक्षणों के आधार पर मैंने शोध-पत्र लिखा और अलेक्सांद्र म्यास्निकोव के पास पहुँच गया।

मेरे आने की उन्हें उम्मीद नहीं थी। चूँकि मैं उनसे कुछ पूछता भी नहीं था, इसलिये उन्होंने सोचा कि मेरा काम कुछ बन नहीं रहा है। जब उन्होंने हस्तलिपि देखी तो सोचा कि यह शायद रफ़ है या अन्वीक्षण-कार्य का प्रतिवेदन है। उन्होंने कहा: "ठीक है, रख दीजिये, मैं देखूँगा"। और दो दिन बाद मुझे बुला भेजा: "यह तो तैयार शोध-पत्र है! आप चुप क्यों बैठे थे? इसे अब प्रतिरक्षित करना होगा! जल्द से जल्द रूमैटिज्म पर संगठित कन्फरेंस में इसकी सूचना दीजिये, वरना कोई आपको पीछे छोड़ जायेगा!"

उनमें हर काम में आगे रहने की उत्कंठा रहती थी। इसमें वे विशेष गौरव महसूस करते थे। कोई जरूरी नहीं कि वे खुद आगे रहें। यदि किसी खोज में उनके शिष्य प्रथम आते थे, तो इससे भी उन्हें बहुत खुशी होती थी। विज्ञान निश्चय ही कोई दौड़-प्रतियोगिता नहीं है। फिर भी यदि किसी ने कुछ किया, कोई नयी बात जान ली, और वह भी पहलेपहल, तो क्या यह अच्छा नहीं है? या यदि आपका शिष्य कोई नयी खोज कर लेता है? यदि आत्मगौरव की भावना को बिल्कुल खत्म ही कर दिया जाये, तो खोज का नशा नहीं आयेगा। लेकिन असली और नकली आत्मगौरव में भेद कैसे किया जाये? असली आत्मगौरव अपनी कीर्त्ति के लिये नहीं होता, काम को आगे बढ़ाने के लिये होता है। उदाहरणस्वरूप, अलेक्सांद्र म्यास्निकोव को गौरव था कि अंतर्राष्ट्रीय हृदलोचक-समाज ने उन्हें स्वर्ण फोनेंडोस्कोप से पुरष्कृत किया था। पूरी दुनिया के थेरापकों में से सिर्फ चार वैज्ञानिकों को यह पुरस्कार मिला है: अमरीका के व्हाइट, फ़्रांस के लेआन, इंगलैंड के पिकेरिंग और सोवियत संघ के म्यास्निकोव को। यह फोनेंडोस्कोप एक सुंदर और महंगी वस्तु

ही नहीं है, यह इस बात का प्रतीक है कि इसे प्राप्त करने वाला आदमी लोगों के हृदय को दुनिया के किसी भी अन्य व्यक्ति से ज्यादा अच्छी तरह सुनता है। म्यास्निकोव सचमुच बहुत अच्छी तरह से सुनते थे!...

परिचर-चिकित्सक के रूप में तीन वर्ष की अवधि खत्म होते-होते मैंने शोध-पत्र प्रतिरक्षित कर लिया और तल्पालय में ही उसी विभाग में सहायक (चिकित्सक) के पद पर काम करने लगा। मैं पाँचवें वर्ष के छात्रों को थेरापी की जटिलताएं समझाया करता था, जैसे पहले मुझे समझाया करते थे। लेकिन 2 वर्ष बाद म्यास्निकोव ने थेरापिक संस्थान में काम करने के लिये बुलाया – इस समय वे इसके निर्देशक बन गये थे। मेरा मन नहीं कर रहा था: मुझे अपना प्रथम आयुर-संस्थान पसंद था, मुझे पढ़ाने का काम भी अच्छा लगता था। सच पूछें तो उसे छोड़ने का मुझे आज भी अफसोस होता है। पर म्यास्निकोव कहने लगे कि वैज्ञानिक अन्वीक्षण-संस्थान में काम और खोज की अधिक संभावनाएं हैं; उनकी कई योजनाएं हैं, जिनमें चुस्त अन्वेषकों की आवश्यकता है। मैंने कहा: "अलेक्सांद्र लेयोनीदोविच, मैं तो अभी बहुत कम उम्र का हूँ (मैं सिर्फ 29 वर्ष का था); पता नहीं विज्ञान के क्षेत्र में मुझसे कुछ होगा भी, या नहीं। अचानक उन्होंने मुझे घूरकर अपना अंतिम निर्णय सुना दिया: "नहीं, आपको वहीं काम करना चाहिये!"

धरती – अंतरिक्ष – धरती

इस तरह 1958 में मैं आयुर अकादमी के थेरापिक संस्थान में काम करने लगा। यह आयुर में गंभीर परिवर्तनों का समय था। इसके हर क्षेत्र में ढेर सूचनाएं जमा थीं, अनेकानेक विशिष्ट

समस्याएं खड़ी थीं – ज्ञान जितना ही बढ़ता है, उतने ही नये प्रश्न भी उठने लगते हैं। वैज्ञानिक तकनीकी क्रांति ने आयुर को नये अन्वीक्षक तकनीक प्रदान किये, जैसे रश्मिसक्रिय समस्थों के उपयोग की विधियां या अंतर्वीक्षक उपकरण, जिनकी सहायता से आंतरिक अंगों और ऊतकों का प्रत्यक्ष प्रेक्षण संभव हुआ। उस समय आंत्रदर्शी नामक उपकरण व्यवहार में आने लगा था। इसे जठर और यहां तक की बारहअंगुली आँत (जठर के तुरंत बाद पतली आँत के लगभग बारह अंगुल लंबे भाग) में भी प्रविष्ट कराया जा सकता है और काँच के रेशों से बने हुए प्रकाशिकीय तंत्र की सहायता से इन अंगों के भीतर का दृश्य देखा जा सकता है: श्लेष्मल झिल्ली किस अवस्था में है, उसमें अर्बुद या व्रण तो नहीं है, कितना बड़ा व्रण है, किस आकार का है। एक्सरे की सहायता से इन बातों का सिर्फ अंदाज लगाया जाता है – जठर की दीवार की छाया के आधार पर, जिसे रोगी को एक गाढ़ा द्रव पिलाकर अधिक गहरा किया जाता है। आंत्रदर्शी से अधिक शुद्ध प्रेक्षण होता है, यह आँख से दिखाता है, फोटोचित्र भी प्राप्त करा सकता है।

इन सब का उपयोग करने के लिये अलग कक्ष चाहिये, उपकरण चाहिये। यदि संस्थान की जीवरसायनिक प्रयोगशाला में निदानिक विश्लेषण के साथ-साथ नयी विधियों का विकास-कार्य भी होता है, तो यह आवश्यक है कि इस प्रयोगशाला में एक ही साथ बिल्कुल भिन्न समस्याओं का अध्ययन न किया जाये।

तात्पर्य यह है कि किसी एक क्षेत्र की समस्या के हल में सफलता प्राप्त करने के लिये शक्ति, साधन और विचार को केंद्रित करना पड़ता है। उस समय एक नयी अवधारणा का जन्म हुआ था – हृत्कुंभिक रोगों का जनमारीलोचन, इसके बाद अर्बुदों

और जठर-व्रणों के जनमारीलोचन जैसी अवधारणाएं आयीं। पहले जनमारी सिर्फ घातक संक्रामक (छूतहे) रोगों – हैजा, प्लेग आदि रोगों – को कहते थे। अब लोगों के बीच कम समय में अत्यधिक प्रचलित हो जाने वाला कोई भी रोग जनमारी कहलाता है। (लोगों के बीच फैली महामारी को जनमारी कहते हैं और पशुओं के बीच – पशुमारी)।

हृत्कुंभिक रोग पहले भी होते थे, लेकिन आज उनकी समस्या के हल को प्राथमिकता दी जा रही है, क्योंकि कल की बड़ी समस्याएं आज समस्या नहीं रह गयी हैं। इसके अतिरिक्त, इन रोगों का अन्य रोगों में अनुपात बढ़ गया है।

दुनिया के सबसे पुराने हृदलोचक – अमेरीका के पोल व्हाइट – ने यह अध्ययन करने का निश्चय किया कि 1866 से 1966 के दरम्यान हृत्कुंभिक रोगों के फैलाव में कैसे परिवर्तन हुए हैं। यह एक कठिन काम था, क्योंकि पहले आयुर ऐसे आँकड़े जमा नहीं करता था – कई लोग बीमार पड़ते थे और बिना किसी डाक्टरी सहायता के मर भी जाते थे। व्हाइट ने इन सब बातों को ध्यान में रखा, फिर भी निष्कर्ष यही निकाला कि सौ वर्ष पहले अमेरीका और यूरोप में हृदय का रक्तागमनरोध बहुत कम होता था, यद्यपि 18-वीं शती के आरंभ में रोग दुर्लभ नहीं रहा। 1909 में ओब्राज्त्सोव और स्त्राभेस्को ने हृत्पेशी के इन्फार्क्त के बारे में लिखा कि यह एक दुर्लभ रोग है और अक्सर अधेड़ लोगों को होता है। तीन साल बाद अमरीकी डाक्टर हेरिक ने भी ठीक यही बात लिखी। व्हाइट बताते हैं कि अपने छात्र-जीवन से लेकर काम करने के कुछेक आरंभिक वर्षों तक उन्होंने महाधमनी के रोग के बारे में सुना भी नहीं था (उल्लेखनीय है कि वे 1911 में डाक्टर बने थे)। इसके बाद इसका नाम

फैलने लगा। छठे-सातवें दशक में अतितान, खीरकठोरन, हृदय-रक्तागमनरोध आदि से लाखों लोग ग्रस्त थे। और मूलतः आर्थिक दृष्टि से विकसित देशों में ही।

विश्व स्वास्थ्य-संगठन के आँकड़ों के अनुसार पाँच वर्ष पहले विकसित अर्थतंत्र वाले देशों में 46% मृत्यु हृत्कुंभिक रोगों के कारण हुई थी, अब यह अनुपात 51% तक पहुँच गया है (दूसरा स्थान कैंसर का है, लेकिन इससे होने वाली मृत्युओं का अनुपात सिर्फ 17.7% है)। सिर्फ यूरोप में इन रोगों के कारण प्रति वर्ष तीस लाख व्यक्तियों का निधन होता है। हमारा देश कोई अपवाद नहीं है, तभी तो सोवियत स्वास्थ्य-व्यवस्था के लिये ये रोग समस्या न. 1 बने हुए है।

पिछले 10-15 वर्षों से हृत्कुंभिक रोग युवावस्था से ही शुरू होने लगा है। आज का डाक्टर तीस या पचीस की उम्र में इन्फार्क्त से गुजर चुकने वाले रोगियों को देखकर आश्चर्य नहीं करता। हम हृदलोचकगण हृत्कुंभिक रोगों के कारणों, इनका खतरा उत्पन्न करने वाले अलग-अलग घटकों का जितना अध्ययन कर रहे हैं, इससे सिर्फ एक बात स्पष्ट है: इन रोगों की आवृत्ति में वृद्धि जीवन-परिस्थितियों में परिवर्तन के साथ संबंधित है; सभ्यता, नगरीकरण और औद्योगीकरण के साथ संबंधित है। कवि लोग कहते हैं कि हर जमाने के अपने तराने होते हैं। डाक्टरों को निष्कर्ष देना पड़ा कि हर जमाने के अपने रोग होते हैं।

ऐसी क्या बात हो गयी? 20-वीं शती और हृदय एकीकृत समस्या क्यों बन गये? बात सीधी है: हम वैज्ञानिक व तकनीकी क्रांति के युग में जी रहे हैं, तकनीकी विकास की गति तीव्र हो गयी है, श्रम का चाल-चरित्र बदल गया है, दैनंदिन जीवन का ढर्रा और सुरताल बदल गया है। काम और जीवन में शारी-

रिक बोझ तेजी से घट गया है। लोग अच्छा खाना खाने लगे हैं, पर उनका हिलना-डुलना कम हो गया है। हम इतना नहीं चलते, जितना पहले चलते थे, छोटी-छोटी दूरियों को भी बस, मेत्रो, आदि में तय करते हैं। सीढ़ियों पर हम कम ही चढ़ते हैं, लिफ्ट और एस्केलेटर के आदी हो गये हैं। लोगों के व्यवहार के परंपरागत रूप बदल गये हैं। पोषण और ऊर्जा-व्यय का अनुपात बिगड़ गया है। आदमी ने जीवन-परिस्थितियों के साथ अपने शरीर के समंजन व अनुकूलन की समस्या उत्पन्न कर दी है। हृत्कुंभिक रोगों के रूप में इस समंजन और अनुकूलन की जटिलताएं ही तो व्यक्त हो रही हैं।

...मुझे याद है, जब मैं अलेक्सांद्र म्यास्निकोव के साथ बोस्टन में पोल व्हाइट के यहां था। व्हाइट अलेक्सांद्र समोइलोव के साथ काम करने, उनसे सीखने के अनुभव बता रहे थे। समोइलोव को सोवियत सरकार ने 1929 में अमरीकी आयुरकों के अनुरोध पर बोस्टन भेजा था – विद्युशरीरलोचन और विद्युहृदलेखन पर व्याख्यान देने के लिये। समोइलोव वहां जितने दिन रहे, प्रयोगशाला में काम करते रहे। व्हाइट उस समय युवक थे, साथ काम करते-करते दोनों में घनिष्ठता बन गयी थी। वे समोइलोव को बीसवीं सदी का सबसे प्रतिभाशाली प्रकृतिवेत्ता मानते थे।

व्हाइट के साथ जब हम अपनी हृदलोचनी समस्याओं पर बातें करते थे, तो वे हर समय एक ही विचार की ओर लौटते थे: सभ्यता ने आदमी को अनेक वरदान दिये हैं, इनसे इन्कार करना भोलापन नहीं, हास्यास्पद है, पर लोग यथासमय यह नहीं पहचान सके कि इन वरदानों में उनके शरीर के लिये क्या खतरे हैं। उसे शहर का शोर सहन करना पड़ता है, उसे हर समय

भागदौड़ रहती है, हमेशा समय की किल्लत रहती है, आवश्यक-अनावश्यक सूचनाओं के प्रवाह में माथापच्ची करनी पड़ती है।

हम हमेशा यह याद नहीं रखते कि विकास के पंद्रह-बीस लाख वर्ष के दौरान विकसित हुई हमारे शरीर की आंतरिक जैव तथा रसायनिक प्रक्रियाएं कितनी पूर्ण और विविध हैं। लेकिन पूर्णता का अर्थ यह नहीं है कि वे हर परिस्थिति में समान क्षमता और समान कारगरता से चलती हैं। पूर्णता का अर्थ है कि ये प्रक्रियाएं उन सभी परिस्थितियों में 'फिट' करने के लिये चुनी गयी थीं, जिनमें मानव-जाति उत्पन्न और विकसित हुई, जिनमें homo sapiens – मानव मेधावी – जीवन की दौड़ में आगे निकल सका। नैसर्गिक चयन तो आखिर हाथी मारकर लाने की परि-स्थितियों में हो रहा था न। भूख शांत करने के लिये आदमी को कई कोसों का चक्कर लगाना पड़ता था। किसान का काम भी कितना कठिन था। सदियां गुजरती गयीं। आदमी श्रम के औजार बदलता गया; अपना काम हल्का करता गया, जो पहले बहुत ही थकाने वाला होता था। मशीनों का जन्म कोई 300 वर्ष पूर्व हुआ था – विकास-अवधि के लिये यह सिर्फ एक मिनट है। और अब तो आदमी की जीवन-परिस्थितियां उसी के कार्य-कलापों से एक संतति में ही इतनी बदल जाती हैं, जितनी पहले सदियों में बदलती थीं।

शहर में यह सब और भी तीव्रता से महसूस होता है – जितना बड़ा शहर होता है, उतनी ही अधिक तीव्रता से महसूस होता है। आँकड़े देखिये: तकनीकी क्रांति गाँवों को भी अपने में समेटती जा रही है, पर हृत्कुंभिक रोग शहरों की अपेक्षा गाँवों में 10-12 गुना कम होते हैं। मास्को जैसे शोर-गुल से भरे विराट नगर में लोग अधिक बीमार पड़ते हैं, बनिस्बत

कि, उदाहरण के लिये, उफा में। स्वास्थ्य-लाभ के लिये अच्छी जगह याल्ता में ये रोग अपेक्षाकृत दुर्लभ हैं। लेकिन उफा में ही मजदूरों के बीच हृदय-कुंभियों के रोग ढाई गुना कम होते हैं, बनिस्बत कि इंजिनियरों और वैज्ञानिक कार्य-कर्त्ताओं के बीच। याल्ता के ड्राइवर इस रोग से उतना ही ग्रस्त होते हैं, जितना याल्ता के बुद्धिजीवी। कारण सीधा है: लंबे सफर, भोजन और आराम में अनियमितता, खतरनाक पहाड़ी रास्ते, स्थायी नार्विक और रागात्मक तनाव और इन सबके साथ— शारीरिक तनाव का अभाव।

घटनाओं की द्वंदिता यही है: वैज्ञानिक-तकनीकी क्रांति आदमी के लिये अनेकानेक भौतिक सुविधाएं रचने के साथ-साथ बदली हुई जीवन-परिस्थितियों में आदमी के अनुकूलन की कठिनाइयां—बीमा-रियां—भी उत्पन्न करती है, जिसकी चिकित्सा और रोकथाम आवश्यक है। दूसरी ओर, विज्ञान के लिये नये औजारों और नयी विधियों को इसी ने जन्म दिया है; शरीरलोचन, जीवलोचन, जीवरसायन के ज्ञान को ऊँचे स्तर तक इसी ने पहुँचाया है। इन बातों से विज्ञान में कई नयी विचारधाराएं उत्पन्न हुई हैं, जो वैज्ञानिक-तकनीकी क्रांति द्वारा उभारी गयी समस्याओं को हल करने में सहायक होती हैं।

मैं जब हृदलोचन के क्षेत्र में आया, आयुर में अनेक गंभीर परिवर्तन हो रहे थे। जब लांग और म्यास्निकोव अतितान-रोग का सिद्धांत रच रहे थे, आयुर के पास आज की तुलना में अन्वीक्षण की बहुत साधारण संभावनाएं थीं (यद्यपि उस समय वे कुछ कम नहीं लगती थीं)।

उस समय शरीरलोचन आदमी का नहीं, बल्कि मुख्यत: जंतुओं का ही शरीरलोचन था। सरल प्रक्रियाओं का ज्ञान वह

सुंदरता के साथ शुद्ध और क्रमबद्ध रूप में देता था, पर मानव-शरीर की जैव प्रक्रियाओं का ज्ञान संपूर्णता के साथ विश्वस्त रूप में नहीं दे रहा था। प्रयोगशालाओं की क्षमता बहुत कम थी। हृत्कुंभिक तंत्र की अवस्था का मूल्यांकन करने के लिये अनेकानेक जीवरसायनिक परिवर्तनों की मापें चाहिये, पर उस समय ज्यादा-तर सिर्फ रक्त में खोलेस्टेरीन की मात्रा का परिवर्तन नापा जाता था। विद्युहृदलेखन का उपयोग कभी-कभी ही होता था। शरीर के 12 मानक स्थलों पर एलेक्ट्रोड लगाकर प्राप्त किये गये हृदलेखन को लोग मनोवैज्ञानिक तौर पह हृदय की तस्वीर, उसका फोटोग्राफ ही मानते थे। किसी के भी दिमाग में यह नहीं आता था कि सिर्फ घाव या व्रण ढूंढ़ने की बजाय हृत्पेशी के वैद्युत विभव में परिवर्तन की प्रवेगिकी का अध्ययन करना चाहिये (अर्थात् – विभव किन कारणों से किन नियमों के अनुसार किस दिशा में परिवर्तित होते हैं, इसका पता लगाना चाहिये)। उस समय यह पता नहीं था कि जीवरसायन और विद्युहृदलेखन से किस तरह की कितनी सूचनाएं प्राप्त की जा सकती हैं।

विद्युहृदलेखी विधि ऐसा लगता था कि अपने उस रूप में सर्वमान्य हो चुकी है, पर छठे दशक के मध्य में तल्पालय में वह दूसरे जन्म को प्राप्त हुई। इसका कारण था हृदय के विद्युशरी-रलोचन के विकास में लंबी छलांग: पहले से अधिक विकसित उपकरण बने और विद्युहृदलेख उत्पन्न होने की जीवभौतिकीय विधि की नयी अवधारणा सामने आयी (पाव्लोव कहा करते थे: प्रकृतिवेत्ता के लिये सबसे महत्त्वपूर्ण है – विधि)।

नये उपकरण और नया ज्ञान पाकर तल्पविद विद्युहृदलेख के सहारे हृत्पेशी में होने वाली घटनाओं की प्रवेगिकी को समझना सीख गये। इसके लिये वे हृत्पेशी की 'कार्य-विधारा' का अभिले-

खन अलग-अलग शारीरिक बोझ के वक्त करने लगे। उदाहरण के लिये – एक ही जगह पर जड़ी हुई सायकिल पर बैठकर उसका पैडल घुमाते वक्त, या कोई ऐसी दवा देने के बाद, जिससे हृत्पेशी में द्रव्य-विनिमय की गतिविधि बदल जाती है, या जो अधिवृक्कों द्वारा स्रावित हर्मोन के अणुओं को रोक देते हैं।

इसी समय तल्पिक शरीरलोचन और हृदलोचन को दो अन्य क्षेत्रों से जबर्दस्त प्रेरणा मिली – एक तो हृदय के करोर्जन से, और दूसरे अंतरिक्षी आयुर से।

फुप्फुस या हृदय का आपरेशन करते वक्त हृदय व मस्तिष्क की अवस्था, रक्त में उपस्थित खमीरों (फर्मेंटों) व विद्युविश्लेषकों, तथा अनेक अन्य घटकों का शुद्ध और संतत प्रेक्षण आवश्यक था।

इसी तरह से अंतरिक्ष-यात्री की भी शारीरिक अवस्था पर लगातार नजर रखना जरूरी होता है – उस समय से ही, जब वह पृथ्वी पर अभ्यास-कक्ष में तरह-तरह के शारीरिक बोझों का अभ्यास करने लगता है। अंतरिक्ष-यात्री निरोग होता है पर वह उड़ान के वक्त चरम परिस्थितियों में होता है।

करोर्जन और अंतरिक्षी उड़ान दो बिल्कुल भिन्न क्षेत्र हैं, पर इंजीनियरों, शरीरलोचकों और तल्पविदों से एक ही मांग कर रहे थे – निदान की नयी, शुद्ध विधियां और उनके लिये आवश्यक उपकरण।

मुझे याद है कि करोर्जक लोग स्टेथोस्कोप से हृदय सुनना सीखने के लिये हमारे तल्पालय आया करते थे। नयी विधियां अपनी जगह पर ठीक हैं, पर पुरानी डाक्टरी कला को त्यागने का कोई सवाल नहीं उठता। करोर्जकों की तुलना में थेरापक अधिक सूक्ष्मता से हृदय सुन सकते थे। दूसरी ओर, करोर्जकों

के लिये निदान की जो भी विधियां और उसके उपकरण बनाये जाते थे, हम लोग भी तुरंत काम में लाने लगते थे।

थेरापकों की सहायता संज्ञाहरण और संजीवन के अध्ययन में ली गयी (संजीवन या संजीवक चिकित्सा ऐसी स्थिति में प्रयुक्त होती है, जब आदमी आकस्मिक कारणों से मरणासन्न हो जाता है या उसकी तल्पिक मृत्यु हो जाती है। तल्पिक मृत्यु से तात्पर्य है कि आदमी में साँस और धड़कन थम जाती है पर केंद्रीय नार्विक तंत्र के उच्च भाग अभी भी काम करते रहते हैं; ऐसी अवस्था से आदमी को उबारा जा सकता है)। इस तरह से प्राप्त नये ज्ञान और नयी विधियां करोर्जी और थेरापिक दोनों ही प्रकार के हृदलोचन में प्रयुक्त होने लगीं।

अंतरिक्षी आयुर की प्रयोगशालाएं या तो नयी थीं या अभी कल्पना में ही थीं। उस समय अंतरिक्ष में आदमी की उड़ान भी कल्पना ही थी, पर यह यथार्थवादी कल्पना थी। इसीलिये वक्ष-करोर्जन और अंतरिक्षी आयुर – दोनों में अ-करोर्जी और 'अ-अंतरिक्षी' तल्पालयों व प्रयोगशालाओं से लोग बुलाये जा रहे थे।

दोनों ही प्रकार के अन्वीक्षणों में महत्त्वपूर्ण भूमिका अकादमी-शियन वसीली पारिन ने निभायी थी। ये समोइलोव के निकटतम शिष्यों में से एक थे। इनकी प्रतिभा बहुमुखी थी, विवेक सूक्ष्म व्यंग्यात्मक था, ये हर नयी चीज के प्रति संवेदनशील थे, इनमें संगठनकर्त्ता के सारे गुण भी थे। पारिन कई वर्षों तक थेरापिक संस्थान में शरीरलोचनी प्रयोगशाला के अध्यक्ष थे। वे बहुत अच्छी तरह से महसूस कर रहे थे कि अंतरिक्षी आयुर, तल्पिक शरीरलोचन, हृत्करोर्जन और थेरापिक हृदलोचन – इन सब की प्रगति एक ही प्रकार की मूर्त्त समस्याओं के हल पर निर्भर

करती है। इनमें से किसी भी एक क्षेत्र की सफलता पूरे आयुर की सफलता होगी। उन्होंने फलनात्मक निदानिकी में नयी विद्यु-शरीरलोचनी विधियों का उपयोग शुरू कराया और आयुरी चालिकी (साइबरनेटिक्स) के विकास के लिये भी बहुत कुछ किया। हम 'पार्थिव डाक्टरों' के लिये स्वचल और एलेक्ट्रोनी कलनक तंत्र इतने रोचक नहीं थे, जितना चालिकी के साथ अस्तित्व में आये हुए आधुनिक प्रकृतिलोचनी चिंतन के सिद्धांत थे।

अंतरिक्ष के लिये जिन प्रायोगिक कार्यों में मैं भाग ले रहा था उसमें हाइपोडिनामिया (अल्पदायित्व, अवप्रवेगन) के संभा-वित परिणामों का प्रतिमान तैयार किया जा रहा था। शारीरिक बोझ की अनुपस्थिति, जो भारहीनता में लंबे समय तक रहने से उत्पन्न होती है, अवप्रवेगन कहलाती है। भारहीनता उस समय हमारे लिये बिल्कुल रहस्यमय थी। प्रयोग बहुत सरल था: बिल्कुल स्वस्थ लोगों को बीस दिनों के लिये बिस्तर पर लिटा देते थे, उन्हें बिना कोई गति किये हर समय लेटे रहना था। इस जीवन-चर्या के बाद उन्हें अपकेंद्री मशीन में बंद करके घूर्णन कराया जाता था। इससे आदमी पर लगभग वैसा ही बोझ पड़ना चाहिये था, जैसा हमारे विचार में अन्तरिक्ष कक्षा से पृथ्वी पर लौटते हुए यान के मंदन के वक्त होना चाहिये था। इस सारी अवधि में प्रयोगाधीन व्यक्ति के हृत्कुंभिक तंत्र और रक्त में होने वाले जीवरसायनिक परिवर्तनों का अध्ययन होता रहता था। (मैं समझता हूँ कि आज के अंतरिक्षी आयुरक के लिये, जिसके पास अंतरिक्ष-यात्री की अवस्था के बारे में महीनों की उड़ान के दरम्यान दूरमापी प्रेक्षणों के आँकड़े आते रहते हैं, हमारी विधि और हमारे आँकड़े बचकाना-से लग सकते हैं, लेकिन हर बड़ा काम इसी तरह के बचकानेपन से शुरू होता

है)। पता नहीं, आधुनिक अंतरिक्षी आयुरक अब हमारी खोज के बारे में क्या कहते हैं, पर मेरे लिये यह काम बहुत लाभदायक रहा है।

मेरे लिये मुख्य काम चिकित्सा ही रही है – हृत्कुंभिक तंत्र की उग्र क्षति और सबसे पहले हृत्पेशी के इन्फार्क्त की चिकित्सा। यह रोग का सबसे प्रचलित रूप है, लेकिन यह एक और बात के लिये महत्त्वपूर्ण है: चिकित्सा-कला में और हृत्कुंभिक क्षतियों के कारणों की हमारी सैद्धांतिक अवधारणाओं के विकास में इन्फार्क्त ही ऐसा अकेला 'बिंदु' निकला, जिस पर हमारे आयुर – कला और विज्ञान – की सारी समस्याओं का मिलन हुआ है।

इन्फार्क्त-ब्रिगेड, तैयार हो !

जिन वर्षों मैं थेरापी का अध्ययन कर रहा था, 'इन्फार्क्त' का भयानक निदान डाक्टरों को बदहवास कर देता था।

बिल्कुल कड़ी आज्ञा थी कि रोगी को थोड़ा-सा भी हिलाया न जाये, यहां तक कि उसे करवट भी न बदलने दिया जाये! और जिस जगह पर रोगी को दौरा शुरू हुआ है, वहां से उसे हटाने की तो बात ही नहीं की जा सकती थी। यदि दौरा काम पर शुरू होता था, तो वहीं कैबिनेट में ही खाट बिछाकर रोगी को दस दिन तक लिटाये रखते थे। इसके कारण डाक्टर को शिरीय कुंभियों के स्पाज्म (मरोड़ के साथ संकोचन), पीड़ा-प्रघात, लय-विकार, तीव्र हृत्कुंभिक अपूर्णता आदि के साथ चल-अस्पताल जैसी परिस्थितियों में संघर्ष करना पड़ता था, जहां गंभीर सहायता नहीं दी जा सकती थी। लंबे सफर को

खतरनाक मानने के कारण रोगी को बस निकटतम अस्पताल पहुँचा देते थे, वह भी ऐसे अस्पताल में, जो इस काम के लिये उपयुक्त नहीं होता था। इससे होता यही था कि डाक्टर अपने को और भी बेबस स्थिति में डाल देते थे!...

अब तो आधुनिक अनुभव की दृष्टि से पुराने डाक्टरों की आलोचना करना सरल है। उनका ज्ञान दूसरा था, चिकित्सा की विधियां भी विपन्न थीं। उनके पास एक ही उपाय रह गया था कि डाक्टरी के पवित्र सिद्धांत "primum ne noceas" – "पहली बात कि नुकसान मत कर" – को अंधाधूंध परम कर्त्तव्य का दर्जा दे देते थे। लेकिन अफसोस की बात है कि इस स्थिति में "नुकसान मत कर" का मतलब होता था: "कुछ मत कर, सब प्रकृति पर छोड़ दे – यदि वह ठीक कर सकेगी तो कर लेगी"। यदि सच पूछें, तो मैं कहूँगा कि प्रकृति अक्सर ठीक कर देती थी, अब भी कर देती है, पर इसकी कीमत बहुत बड़ी होती है। 1958-1959 में रोग-विधि की अवधारणा बदल गयी। पहले इन्फार्क्त को घायल होने की क्रिया समझते थे, हृत्पेशी की क्षण भर में होने वाली क्षति मानते थे और क्षति का आकार भाग्य द्वारा पूर्व-निर्धारित मानते थे। अब हम रोग-प्रक्रिया का समय में फैलाव अनुभव करने लगे हैं, उसके विकास के चरणों को समझने लगे हैं। अब हम यह भेद करने लगे हैं कि इनमें से कौनसे चरण हृत्पेशी के साथ 'दुर्घटना' की प्रतिक्रिया हैं, जो चरम घातक हैं, फिर भी उन्हें दूर किया जा सकता है। यह भी पहचानने लगे हैं कि कौनसी प्रतिक्रिया उन निश्चित अनाटोमिक परिवर्तनों की अभिव्यक्ति है, जो हमेशा ही बने रहेंगे। तभी तो हृदलोचकों को प्रक्रिया में बाधा डालने, अस्थायी विकारों को दूर करने या रोकने और काफी उग्र परिणामों को भी न्यून

करने की योग्यता प्राप्त हो सकी है।

व्यावहारिक आयुर के लिये यह एक प्रकार से क्रांति ही थी। और वह आयी इसलिये कि परिपक्व हो चुकी थी। अब प्रश्न उठा : इन्फार्क्त के रोगी के साथ क्या किया जाये ? उनकी मृत्यु जटिलताओं से, हृदय की अपूर्णता से, लय-विकार से या फुप्फुस-शोफ (फेफड़े में पानी) से होती है, जिसका इलाज बहुत कठिनाई से ही सही पर अक्सर हो जाता है !

इसका मतलब है कि रोगी को अपनी जगह पर नहीं छोड़ना चाहिये, उसे तल्पालय लाना चाहिये। इसके लिये विशेष 'निर्विलंब सहायता' संगठित करनी चाहिये, जो प्रथम चरण में सभी आवश्यक सहायताएं उच्च स्तर पर दे सके। इसीलिये उन दिनों एक निर्विलंब उपकेंद्र को 'विशेष' का दर्जा दिया गया, जिसे मरणासन्न व्यक्तियों की सहायता के लिये विशेष रूप से संगठित किया गया था। वहां प्रघात-सहायता के ब्रिगेड थे, जो गंभीर चोटों या विषैलेपन के शिकार लोगों की सहायता के लिये तैयार किये गये थे। इन्फार्क्त के रोगियों की सहायता भी इन्हीं के जिम्मे थी। (आप देख रहे हैं कि बड़े परिवर्तन आयुर के भिन्न क्षेत्रों में एक ही साथ हो रहे थे।)

प्रथम इन्फार्क्त-ब्रिगेड के बस में विद्युहृदलेखक उपकरण, नियंत्रणीय श्वसन के लिये एक बड़ा-सा संज्ञाहर-उपकरण, आक्सीजन का बड़ा-सा नीला सिलिंडर, हृदय के वैद्युत प्रेरण के लिये उपकरण और, जहां तक मुझे याद है, वाश-बेसीन और आपरेशन-टेबुल भी थे !

इन्फार्क्त में सहायता देने वाले ब्रिगेड के प्रथम डाक्टर आयुर-अकादमी के उन तल्पालयों और प्रयोगशालाओं के सहकर्मी थे, जहां पीड़ाहरण और संजीवन (पुनर्प्राणसंचार) की विधियां
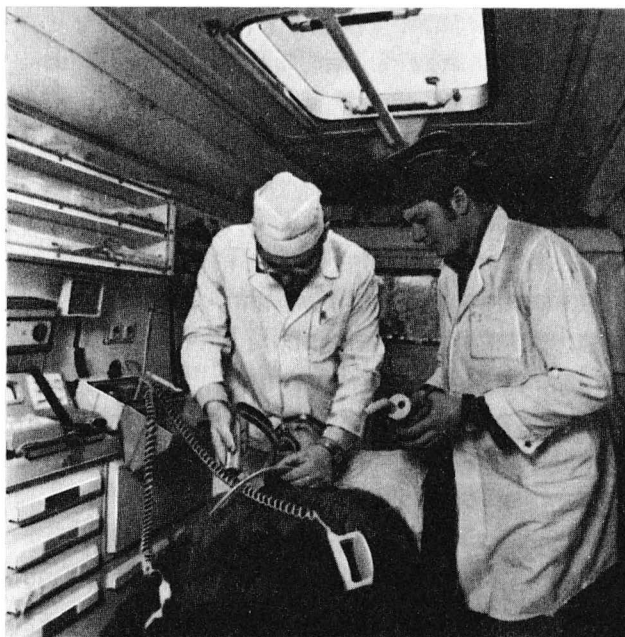
इन्फार्क्त-ब्रिगेड का बस

रची और विकसित की जा रही थीं। संजीवन से तात्पर्य है : रोगी को हृदय की गंभीर क्षति के कारण विकसित 'हृदजनित प्रघात' की अवस्था से, यंत्रणा और तल्पिक मृत्यु से उबारना। तल्पिक मृत्यु, अर्थात् हृदय की धड़कन का रुक जाना हृत्पेशी की अपेक्षाकृत मामूली क्षति से भी संभव है। धीरे-धीरे ब्रिगेड की डायरी में इस तरह के अभिलेख मिलने लगे :

2.30. अवस्था बहुत खराब है। साँस और हृदय की गति रुक गयी है। हृदय की अप्रत्यक्ष मालिश और कृत्रिम साँस (मुँह से मुँह में फूँककर) शुरू

की गयी। अधोत्वचीय सूई कोर्डियामीन और लोबेलीन दी गयी, अंतर्शिरीय सूई – ग्लुकोज के साथ स्त्रोफांतीन – दी गयी। हृदय में आद्रेनालीन पहुँचाया गया। साँस और हृदय-गति शुरू हो गयी। आक्सीजन दिया गया। धमनीय दाब – 90/40। नाड़ी – 60 स्पंद प्रति मिनट।

4.30. अवस्था गंभीर है, पर रोगी को ले जाया जा सकता है। नाइट्रस आक्साइड से संज्ञाहरण किया गया। रोगी को स्ट्रेचर पर लिटाया गया और 4.55 में अस्पताल पहुँचाया गया।

इसके बाद निर्विलंब सेवा के डाक्टरों को संजीवनी विधियां और अन्य आवश्यक बातें सिखायी गयीं, ताकि वे किसी भी प्रकार के उग्र विकार से निपट सकें और रोगी को ठीक-ठाक अस्पताल तक पहुँचा सकें। कुछ वर्ष पूर्व बोस्टन से विख्यात हृदलोचक डा. बेर्नार्ड लॉन ने मुझे "न्यू यार्क टाइम्स" में प्रकाशित अपना एक निबंध भेजा। इन्फार्क्त के रोगी को वहन करने या तल्पालय में उसकी चिकित्सा के समय उसे हृदजनित प्रघात न हो जाये इसके लिये नाइट्रस आक्साइड से संज्ञा हरने की हमारी विधि को डा. लॉन और उनके सहकर्मियों ने अपनाया था। अपने निबंध में उन्होंने इसी के अनुभव लिखे थे। हमारी राजधानी में इन्फार्क्त-सेवा के कई ब्रिगेड चौबीसों घंटे ड्युटी देते रहते हैं। ये अनेक अन्य शहरों में भी हैं। सारे देश में उनकी संख्या हजारों तक है। और सायरेन लगे हुए संजीवक औटोबस ही नहीं, निर्विलंब सेवा की सभी बसें आवश्यक उपकरणों से सज्जित होती हैं। ये उपकरण पहले की तरह भारी-भरकम नहीं, छोटे और सुविधाजनक हैं।

एक बार की बात है, हमारे हृदलोचनी संस्थान में एक ऐसा आदमी चिकित्सा करा रहा था, जिसकी घर में तल्पिक मृत्यु हो गयी थी। इस अवस्था से उसकी रक्षा किसने की?...

उसकी पत्नी ने! भाग्य की बात थी कि वह हमारे तल्पालय के निर्विलंब हृदलोचनी विभाग में दाई का काम करती थी। उसने कई बार देखा था कि हम लोग किस प्रकार से संजीवन-कार्य करते थे। जब उरोदमन के दौरे के कारण उसका पति चेतना खो बैठा, नीला पड़ गया और उसके गले से घरघराहट की आवाज आने लगी, तो उसने पति की नाड़ी देखी – नाड़ी नहीं थी। पत्नी घबरायी नहीं, वह तुरंत पति को बिस्तर से उतार कर जमीन पर लिटा दी (रोगी को कठोर और समतल सतह पर लिटाना बहुत जरूरी होता है) और वक्ष के ऊपर से हृदय की मालिश करने लगी, कृत्रिम साँस देने लगी।

जब 15-20 मिनट बाद निर्विलंब सेवा की गाड़ी आयी (बेटी ने बुला भेजा था), तो डाक्टर ने रोगी को जमीन पर लेटे हुए देखा। पत्नी बेचैन मालिश में लगी हुई थी। नाड़ी में धीरे-धीरे स्पंदन शुरू हो गया, रोगी होश में आने लगा। डाक्टर ने चिकित्सा आगे बढ़ायी, हृत्कुंभिक अपूर्णता दूर की और रोगी को तल्पालय ले आया। (इसके बाद रोगी दस वर्ष तक आराम से जीया)।

मैं यह कहना जरूरी समझता हूँ कि संजीवन की विधियां बहुत सरल और कारगर हैं। उनका ऐसे लोग भी उपयोग कर सकते हैं, जिन्हें आयुर की कोई शिक्षा नहीं मिली है। इसके लिये सिर्फ चंद आवश्यक बातें समझ लेनी चाहिये। पहली बात तो यह है कि रोगी को कठोर सतह पर लिटाना चाहिये। फिर हृदय की अप्रत्यक्ष मालिश करनी चाहिये; इसका मतलब छाती की त्वचा को सहलाना, रगड़ना या मलना नहीं है। इसका मतलब है कि पसली-पिंजर को पर्याप्त शक्ति और एक नियमित लय के साथ दबाते रहना चाहिये, जिससे हृदय बारी-

बारी से संकुचित और शिथिल होता रहे (क्योंकि इस समय वह खुद ब खुद काम नहीं कर पाता)।

यह बहुत अच्छी बात है कि आजकल मजदूर, एलेक्ट्रीशियन, स्कूली बच्चों आदि को भी हृदय की मालिश करने और कृत्रिम साँस देने की विधि सिखायी जा रही है। टेलीवीजन के प्रोग्राम "स्वास्थ्य" में दिखाया जा रहा है कि संजीवन-कार्य कैसे करना चाहिये। इसमें कोई पारलौकिक रहस्य नहीं है: सिर्फ नियत विधियों का ठीक-ठीक पालन करने की आवश्यकता है। और कोई भी आदमी यदि किसी बेहोश हो गये व्यक्ति के प्रति उदासीन नहीं है, उसकी बेहोशी से घबड़ाता नहीं है, बल्कि धड़कन रुकते देखकर यह समझ लेता है कि उसे क्या हो गया है और इन तरीकों को आजमाना शुरू कर देता है, तो उस व्यक्ति की जान बचाने में सफल हो जा सकता है।

यह भी ध्यान देने योग्य है कि निर्विलंब सेवा के लिये विशेष ब्रिगेड संगठित करना आसान काम था, पर उस समय 'निर्विलंब' में काम करने वाले डाक्टरों के पुराने रूढ़िगत विचारों को बदलना कहीं अधिक कठिन काम था। वे रोगी को अस्पताल लाने में क्या, थोड़ा-सा हिलाने में भी डरते थे। उन्हें इस भय से मुक्त करना था। इसके अतिरिक्त उन्हें यह बात भी अच्छी तरह से समझानी थी कि उग्र अवस्था आने के पहले एक ऐसी अवधि भी होती है, जब रोग की अभिव्यक्तियां इतनी खतरनाक नहीं होतीं। इसी लिये डाक्टर को सतर्कता से काम लेना चाहिये, जैसे ही इफार्क्त का शक हो। जैसे ही उरोदमन का दौरा पड़े और उसे 1.5-2 घंटे तक में दूर नहीं किया जा सके, रोगी को तुरंत ही अस्पताल में रखने की चेष्टा करनी चाहिये।

पहली समस्या हल हो चुकी थी: रोगी को जल्द से जल्द अस्पताल पहुँचाना चाहिये – इसके लिये विशेष निर्विलंब सेवा संगठित हो चुकी थी। अब दूसरा प्रश्न था: अस्पताल में कहां पहुँचाया जाये? पहले हृत्पेशी के इन्फार्क्त वाले रोगी को सामान्य थेरापिक विभाग में रखते थे। यदि रोगी की अवस्था गंभीर होती थी, तो उसे अलग कमरे में रखा जाता था, उसके पास एक नर्स बैठी रहती थी, जो हर समय उसकी निगरानी करती थी। लेकिन रोगी तो बहुत हो गये और उनमें नवयुवकों की संख्या भी कम नहीं थी, जिन्होंने कभी उरोदमन अनुभव नहीं किया था। इस तरह का रोगी पोलीक्लिनिक में साधारण-सी शिकायत लेकर पहुँचता था और जब डाक्टर उसका विद्युहृदलेख देखकर बताते थे कि इन्फार्क्त का शक है, उसे तुरंत अस्पताल में लेट जाना चाहिये, तो वह इन्कार करने लगता था: "काहे का इन्फार्क्त? काहे का अस्पताल?" रोगी बहुत मुश्किल से तैयार होता था, और वह भी सिर्फ इसलिये कि विशेषज्ञ लोग जल्दी से अपने निष्कर्ष बता दें और उसे घर जाने दें। वह स्ट्रेचर पर लेटना नहीं चाहता था। अस्पताल में उसे सामान्य कक्ष में स्थान मिलता था और वह घंटे, दो घंटे बाद बिस्तर से निकलकर कहीं चोरी से सिगरेट पीना शुरू कर देता था। और कहीं अवस्था अचानक दुर्घटना का रूप ग्रहण कर ले? समय पर सहायता मिलना भी मुश्किल हो जाता था! जबतक किसी को पता चले, जबतक ड्युटी के डाक्टर की खोज हो, जबतक वह दौड़कर आये और जबतक वह समझ पाये कि क्या हो गया है और क्या करना चाहिये, काफी देर हो जाती थी।

निष्कर्ष स्पष्ट था: रोगी को तल्पालय या अस्पताल के विशेष विभाग में रखना चाहिये। संकटकाल में उस पर लगातार

निगरानी रखनी चाहिये, ताकि आयुर के लिये उपलब्ध कोई भी सहायता उसे 2-3 मिनट के अंदर मिल जाये।

...आयुर के लिये उपलब्ध कोई भी सहायता – वह भी उच्चतम कोटि की ! किसका यह विचार था, मैं नहीं कह सकता। शायद एक ही साथ कई लोगों के मन में उठा था। मास्को में हृदलोचन को आगे बढ़ाने वाले मुख्यतः तीन तल्पालय थे – थेरापिक संस्थान का तल्पालय, प्रथम आयुरी संस्थान का तल्पालय, जिसका नेतृत्व उस समय के वरिष्ठतम थेरापक विनो-ग्रादोव कर रहे थे, और द्वितीय आयुर संस्थान का तल्पालय, जिसका संचालन पावेल लुकोम्स्की कर रहे थे। मैं थेरापिक संस्थान में आने के बाद लोष्टन की समस्या का अध्ययन करने लगा : यह रहस्य की ही बात थी कि द्रव रक्त कुंभी के किसी भाग में अचानक फट जाता है, थक्का हो जाता है और रोड़े (लोष्ट) के रूप में कुंभि को अवरुद्ध कर देता है (लोष्टन)। सारी आफत इसी से शुरू होती है, क्योंकि हृत्पेशी-इन्फार्क्त के 90% केस महाधमनी के लोष्टन के कारण ही होते हैं। लोष्ट बनने की जीवरसायनिक प्रक्रिया सिद्धांततः तो ज्ञात थी, पर नयी विधियां उसे और भी सूक्ष्मता से देखने में सहायक बनीं। उसके छोटे-मोटे विवरण भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। म्यास्निकोव मुझसे जल्दीबाजी करा रहे थे, क्योंकि इन्फार्क्त की समस्या का हल दो तल्पालयों में ढूंढ़ा जा रहा था और म्यास्निकोव की इच्छा थी कि उनका तल्पालय आगे रहे। चूँकि मैं रोगलोचनी प्रक्रिया की गतिविधि अध्ययन कर रहा था, इसलिये हमारे तल्पालय में आवश्यक 'सुधार' लाने का भार भी मेरे ही कंधों पर आ पड़ा।

शुद्ध हृदलोचक के रूप में मेरा जीवन तल्पालय में निर्विलंब

हृदलोचन-विभाग के संगठन-कार्य के साथ शुरू हुआ, जिसमें हमारे देश का प्रथम 'गहन प्रेक्षण-वार्ड' बनाया गया था। विनोग्रादोव के तल्पालय में यह काम विताली पोपोव के जिम्मे था, जो आज प्रोफेसर हैं। कुछ समय बाद ऐसे ही विभाग लुकोम्स्की के तल्पालय में, स्क्लीफोसोव्स्की संस्थान और बोत्किन अस्पताल में भी खोले गये।

गहन प्रेक्षण-विभाग हृदलोचनी सेवा का अन्यतम अंग है। इसमें इन्फार्क्त-सहायता के ब्रिगेड द्वारा संजीवित रोगी और ऐसा रोगी, जो खुद पौरतल्पालय आया था और बाद में डाक्टरी की सामान्य गाड़ी में बैठाकर तल्पालय लाया गया था, दोनों को बराबर मानकर समान गहनता से उनका प्रेक्षण करते हैं। दोनों ही को जिस लेटी हुई अवस्था में लाते हैं, उसी में विशेष चारपायी के कठोर तख्ते पर बिना हिलाये-डुलाये रख देते हैं। यहीं उसके कपड़े बदलते हैं, उसके शरीर के साथ हृदयदर्शी के दातृक (माप्य राशि को प्रेक्षण के लिये किसी अन्य सुविधाजनक राशि में रूपांतरित करके देने वाले उपकरण) चिपका देते हैं। रोगी की हालत सुधरने वाली हो या नहीं हो, हर हालत में उसे 24 घंटे तक गहन प्रेक्षण के अधीन रहना होगा।

पूरा विभाग छोटे-छोटे केबिनों में बटा हुआ है, हरेक में चारपाई वीडियो-कंट्रोल सिस्टम लगा होता है। हृदयदर्शी का एक स्क्रीन रोगी के पास होता है और दूसरा वार्ड के बीच में कंट्रोल-डेस्क के पास होता है। इन पर रोगियों के हृदलेख के महत्त्वपूर्ण विवरण चित्रित होते रहते हैं। दातृक श्वसन-आवृत्ति और धमनीय दाब भी अभिलेखित करते जाते हैं।

प्रथम दिन ही सबसे खतरनाक होते हैं, इसी अवधि में तरह-तरह की जटिलताएं उत्पन्न होती हैं (वैसे, यदि बाद में
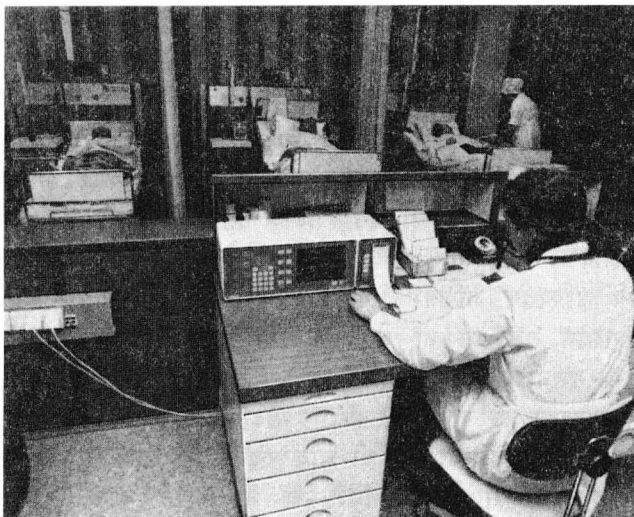
गहन प्रेक्षण-विभाग हृदलोचनी सेवा का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग है। विभाग के दो खंड होते हैं: खाट और वीडियो-नियंत्रण।

इस तरह के खतरे का आभास होता है, तो रोगी को पुनः प्रेक्षण-विभाग में वापस कर देते हैं)।

हृदय के लय में थोड़ी-सी भी गड़बड़ी होती है, या हृदलेख के वक्र में कोई परिवर्तन होता है, अथवा दाब थोड़ा कम या अधिक होता है, एलेक्ट्रोनी उपकरण इसे तुरंत नोट करते हैं और साथ ही बिजली की धीमी घंटी बजाने लगते हैं। कभी-कभी झटके से करवट बदलने या दातृक के उखड़ जाने से ही घंटी बज उठती है, इसमें कोई खतरे की बात नहीं होती; फिर भी नर्स या हृदलोचक-संजीवलोचक डाक्टर जरूर ही रोगी के पास पहुँच जाते हैं। खुशी की बात है कि अधिकांश रोगी

कठोर बिस्तर पर चौबीस घंटे ही बिताकर उससे छुट्टी पा लेते हैं – उन्हें सामान्य वार्ड में स्थानांतरित कर दिया जाता है।

एक बात और बता दूँ कि निगरानी रखने वाले उपकरणों का तंत्र अब एलेक्ट्रोनी कलनक मशीन के साथ जुड़ा रहेगा। यह मशीन एक खास प्रोग्राम के अनुसार काम किया करेगी।

किसी तरह की जटिलता उत्पन्न होने के पहले रोगी की अवस्था में अनेक सूक्ष्म परिवर्तन संभव हैं। मशीन की याददाश्त में ये परिवर्तन अंकित रहेंगे और यदि वे पुनः उत्पन्न होंगे, तो मशीन तुरंत उनका खतरे के रूप में मूल्यांकन कर देगी। आदमी इतनी जल्द यह काम नहीं कर सकता। एलेक्ट्रोनी मशीन सिर्फ अवस्था की गतिविधि को ही याद नहीं रखती, वह डाक्टर या नर्स की प्रतिक्रिया को भी याद रखती है। साथ ही वह इन सामग्रियों का सांख्यिकीय विश्लेषण भी करती जाती है, जो रोग के उग्रतम रूपों का ज्ञान बढ़ाता है, हमारी कला और हमारे संगठन के विकास को आधार प्रदान करता है।

जिन रोगियों में हृदलय-विकार या हृत्कुंभिक अपूर्णता के संकेत अवलोकित हुए हैं या होने की संभावना है, उन्हें द्रुत सहायता पहुँचाने के लिये अधोजत्रुक शिरा (हँसली के नीचे स्थित शिरा) में दो-तीन दिन के लिये प्लास्टिक की एक नली प्रविष्ट करा दी जाती है (अधोजत्रुक शिरा की गणना सबसे बड़ी शिराओं में होती है)। आवश्यकता पड़ने पर इसके सहारे क्षण भर में कोई भी दवा सीधा रक्त में पहुँचायी जा सकती है ; हर बार शिरा को ढूंढ़ने में समय बर्बाद नहीं करना पड़ता। यदि जरूरत हो तो इस नली को आगे बढ़ाकर हृदय की गुहा में पहुँचाया जा सकता है और नली में एलेक्ट्रोड प्रविष्ट कराके आंतरहृदलेख प्राप्त किया जा सकता है।

यदि हृदय को गति देने वाला तंत्र क्षत हो जाता है, तो उसी अधोजत्रुक शिरा के सहारे वैद्युत उद्दीपक-जोंड हृदय के मुहाने पर पहुँचाते हैं और हृदय को आवश्यक लय पर चलने को मजबूर करते हैं। वैद्युत लयोद्दीपक अब निर्विलंब हृदलोचनी सहायता की गाड़ी में भी होता है। आवश्यकता पड़ते ही डाक्टर रोगी के वक्ष की त्वचा के नीचे हृदय में सूईनूमा एलेक्ट्रोड चुभा देता है, जो सिगरेट की डिब्बी के आकार वाले उद्दीपक उपकरण के साथ जुड़ा रहता है। कुछ रोगी चलने-फिरने लायक हो जाते हैं, फिर भी उनका हृद-लय गंभीर रूप से विकृत रहता है। वे वर्षों तक हृदय में एलेक्ट्रोड और वक्ष के पास ऊपरी जेब में उद्दीपक लिये घूमते हैं (उद्दीपक को तीन वर्षों में एक बार आविष्ट करना पड़ता है)।

खैर, गहन प्रेक्षण-विभाग में लौटते हैं। यहां हृदलोचक का काम वैसा ही होता है, जैसा करोर्जी तल्पालय या आपरेशन के बाद संजीवक वार्ड में होता है। हम संज्ञाहारी दवाओं और विशेष उपकरणों द्वारा कृत्रिम तौर पर नियंत्रणीय साँस का उपयोग करते हैं। सीधा हृदय की शिरीय कुंभि में नली द्वारा दवा पहुँचाते हैं, पांच से सात किलो वोल्ट तक की उच्च स्थिर धारा के निरावेशन से हृदय का कार्य सामान्य करते हैं। इस विधि को 'स्थिर धारा से हृदय का निस्स्फुरण' कहते हैं, जिस पर सोवियत संघ को गौरव है। इसके सैद्धांतिक आधार की खोज युद्धपूर्व गुर्विच और यूनियेव ने की थी। युद्धोपरांत प्रोफेसर गुर्विच ने अपने सहकर्मियों के साथ मिल कर निस्स्फुरण के लिये एक बहुत ही विश्वस्त उपकरण का निर्माण किया। हृदय के आपरेशन में इसका प्रथम उपयोग अकादमीशियन विश्नेव्स्की ने किया, फिर तो निस्स्फुरण हृत्कुंभि-करोर्जन के साथ-साथ संजीवलोचन

और थेरापी के भी क्षेत्रों में हमेशा के लिये स्थान बना लिया।

छठे दशक में विदेशी आयुरक सोवियत वैज्ञानिकों के प्रकाशित निबंधों में इतनी रुचि नहीं दिखाते थे, इसीलिये निस्स्फुरण की विधि स्वयं विकसित कर रहे थे, लेकिन वे परिवर्ती धारा का उपयोग कर रहे थे। इसी के कारण उन्हें अच्छे परिणाम नहीं मिल पा रहे थे। स्थिर धारा की तुलना में परिवर्ती धारा से कई अतिरिक्त प्रभाव उत्पन्न होने लगते हैं, जिनके कारण लाभ नहीं के बराबर होता है। सोवियत संघ द्वारा सर्जित यह विधि अब सारी दुनिया में मान्यता प्राप्त कर चुकी है और हमारे यहां ग्रामीण अस्पतालों के डाक्टर भी इसका उपयोग करना जानते हैं।

...मुझे अक्सर ऐसे फिल्मों की याद आती है, जिनमें सातवें दशक के आरंभ में डाक्टरों को हृदय का आपरेशन करते हुए दिखाया गया है। फिल्म का नायक – डाक्टर – देर तक सोचता रहता है कि रोगी को बचाने के लिये निस्स्फुरण का उपयोग करे या नहीं। लेकिन मेरे साथ सिनेमा जैसी बात नहीं हुई थी। हमने गहन प्रेक्षण के वार्ड को उपकरणों से लैस किया। उसमें करोर्जकों से उधार लिया हुआ निस्स्फुरक भी रखा। जैसे ही 'निर्विलंब गाड़ी' पहले रोगी को ले आयी, उसे स्फुरण शुरू हो गया। हम लोगों ने तुरंत बिना ज्यादा सोच-विचार किये अपना खटारा उपकरण फिट किया और 5 हजार वोल्ट निराविष्ट कर दिया। यदि किसी बात का डर था, तो यही कि उपकरण न जल जाये, नहीं तो जरूरत पड़ने पर दुबारा निस्स्फुरण नहीं किया जा सकेगा।

जमाना दूसरा है। रफ्तार दूसरी है। जब कोई आयुरी समस्या आती है, तो पहले अच्छी तरह से जानी-पहचानी विधियों

को ही चुनते हैं, ताकि हृदलोचनी प्रघात या निपात से रोगी की रक्षा की जा सके। इसमें रंगमंच पर अभिनय जैसी सुंदरता की बात नहीं है। सिर्फ एक दुष्कर कार्य है, जिसका लक्ष्य सधा हुआ और मूर्त्त है–एक और जीवन की रक्षा करना।

मैं एक बार फिर से कहता हूँ: रोगी और रोग के बुरे परिणाम सिर्फ सांख्यिकी में अमूर्त्त रूप ग्रहण करते हैं–इकाई और उसके पहले शून्यों की कतार, अर्थात् एक प्रतिशत के नगण्य अंश का रूप। डाक्टर के लिये रोगी हमेशा ही जीवित आदमी है। वह किसी की माँ है, बेटी या बेटा है, पिता है, पति है, प्रिय है। यदि वह दुनिया में बिल्कुल अकेला है, तो भी वह कुछ रच सकता है, कुछ कर सकता है। और कुछ नहीं, तो कुछ और समय के लिये आकाश ही निहार सकता है, पेड़-पौधों की सुंदरता देख सकता है, लोगों से बातें कर सकता है, किताब पढ़ सकता है। हर जीवन की रक्षा के लिये हर संभव-असंभव उपाय करने चाहिये। सच्चा डाक्टर रोगी के जीवन के लिये अंत तक संघर्ष करता है। यह मेरे गुरुओं ने मुझे सिखाया था। अब मेरे शिष्य हैं, उन्हें भी मैं यही सिखाता हूँ–सभी उपाय खत्म होने पर भी संघर्ष करना। तभी हमारा जीवन सार्थक हो सकता है।

...ऐसी परिस्थितियां भी आ जाती थीं, जब कुछ सूझता ही नहीं था कि क्या किया जाये। ऐसा ही एक किस्सा बताता हूँ, जो मेरे लिये एक सुखद घटना से शुरू हुई थी: मुझे एक रोचक फिल्म देखने का आमंत्रण मिला था। मैं बहुत खुश था कि वहां जाने के लिये मैंने अपने पास समय भी निकाल लिया। लेकिन जैसा हृदलोचक और करोर्जक अक्सर करते हैं, मैंने अपने तल्पालय में ड्यूटी पर तैनात डाक्टर को खबर दे दी कि मैं कहां रहूँगा।
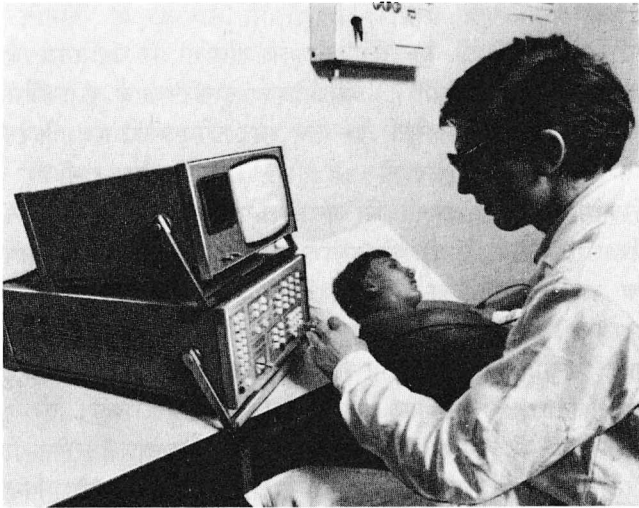
निस्स्फुरण के लिये उपकरण

फिल्म पूरा नहीं देख सका, मुझे बीच में ही हाल से बुला लिया गया: "आपको तुरंत अपने संस्थान में बुलाया जा रहा है; गाड़ी बाहर खड़ी है"। गाड़ी से निकलकर दौड़ता हुआ विभाग में आया। देखा कि खाट पर मेरे सुपरिचित कलीग प्रतिभावान नर्वकरोर्जक अलेक्सांद्र आरूत्यूनोव पड़े हुए थे।

उन्हें बहुत गंभीर इन्फार्क्त हुआ था। हृदलय थोड़ा-सा भी सामान्य नहीं हो रहा था। निस्स्फुरण करने पर उसका प्रभाव 1-2 मिनट से ज़्यादा नहीं रहता था। प्रभाव खत्म होते ही फिर से स्फुरण – हृदय की दीवारों का फरकन, हृत्पेशी के तंतुओं का अनियमित संकोचन – शुरू हो जाता था, जो इस बात का सूचक है कि हृदय जल्द ही पूर्णतया गतिहीन हो जायेगा (अपना

वास्तविक कार्य वह इस अवधि में ही बंद कर देता है)।

उस समय जो भी साधन थे, सब का उपयोग किया गया। 3 घंटे 40 मिनट के दौरान सिर्फ इस विद्युस्पंदी चिकित्सा को ही 70 बार दुहराया गया, लेकिन हर बार पुरानी अवस्था लौट आती थी। अचानक मेरे मन में ऐसी बेबसी छा गयी कि मैं निढाल होकर पास की खाली खाट पर बैठ गया। सोचने लगा कि अब कुछ करना निरर्थक है: तीन घंटे में रोगी दस मिनट तक तल्पिक मृत्यु की अवस्था में रहा है; मस्तिष्क में घातक अनुत्क्रमणीय परिर्वतन हो चुके होंगे...

डाक्टर के लिये सबसे खतरनाक क्षण हैं भावहीनता के, या जब वह यंत्रवत निर्देशों का अनुसरण करने लगता है। क्षणिक कमजोरी की भावना किसी भी व्यक्ति में आ सकती है, पर बेबसी की ऐसी अनुभूति की कामना मैं किसी के लिये भी नहीं कर सकता। सौयाग्यवश मैं अपने सच्चे मित्रों के बीच था। अब भी जब मुझे यह घटना याद आती है, मैं अपने शिष्यों और सहकर्मियों के प्रति गहरी कृतज्ञता अनुभव करता हूँ कि उन्होंने मेरी अवस्था देखकर भी अनदेखी कर दी और संजीवन-कार्य चलाते रहे। सफलता धीरज से और संघर्ष की जिद से ही आयी, जिसे मैं क्षण भर को अचानक ही निरर्थक मान बैठा था।

अस्सीवें विद्युस्पंद के बाद आखिर सामान्य हृदलय स्थापित हो ही गया। कुछ और समय बीतने पर रोगी की चेतना भी लौट आयी। कुछ महीनों बाद करोर्जक आरूत्युनोव फिर से अपने तल्पालय के आपरेशन-कक्ष में प्रविष्ट हुए और 5 वर्षों में, जितना वे और जीवित रहे, उन्होंने सैकड़ों लोगों की गंभीर-तम रोगों से जान बचायी।

इस घटना के बाद हमें नया आत्मबल मिला और इस अतिशय विद्युस्पंदी चिकित्सा से अनेक लोगों की जिंदगी लौटा सके।

एक और उदाहरण। हमारे तल्पालय में एक रोगी था – पेशे से भूलोचक। उसे भी गहरा इन्फार्क्त था। उसके हृद-कक्षों में कुछ दिनों तक कई-कई बार स्फुरण उत्पन्न होता रहा। रोज दसियों बार तक निस्स्फुरण करना पड़ता था; एक दिन तो सौ बार करना पड़ा था! रोगी का इलाज हो गया, उसे अस्पताल से छुट्टी दे दी गयी। बीच-बीच में सिर्फ जाँच कराने आया करता था; धीरे-धीरे उसने आना बिल्कुल ही छोड़ दिया। बेचारे तल्पालय के सहकर्मी उसे बुलाने के लिये एक पोस्टकार्ड तक भेजने का साहस नहीं जुटा पा रहे थे, वे डर रहे थे: उसकी इतनी बुरी अवस्था थी कि सुधार की अवधि के बाद कुछ भी हो जा सकता है; संभव है कि वह अब जीवित ही न हो। तीन साल से कुछ ऊपर हो गया, अचानक हमारे भूलोचक को निर्विलंब सहायता की गाड़ी उठा लायी – हालत उसकी बिल्कुल दुरुस्त थी। उसे कोई शिकायत नहीं थी, कोई परेशानी नहीं थी, इस सारे समय वह भूलोचन पढ़ाता रहा, खूब पैदल चलता था, अपने छोटे से बाग में कुदाल भी चलाता था! लेकिन पोलीक्लीनिक का नया डाक्टर, जिसके पास वह एक मामूली-सी बात के लिये गया था, उसके हृदलेख में बीती हुई बीमारी की छाप देखकर घबरा गया!... और उसी की कृपा से हमारे सहकर्मी अपने काम का 'दूरस्थ परिणाम' देखने का सौभाग्य प्राप्त कर सके।

यदि पाँचवें दशक की बात लें, तो लांग के आँकड़ों के अनुसार इन्फार्क्त के 60% रोगी रोगारंभ के बाद एक बर्ष

के अंदर मर जाते थे। यद्यपि इस आँकड़े में इन्फार्क्त के वे केस सम्मिलित नहीं हैं, जिन्हें समय पर पहचाना नहीं जा सका था, फिर भी स्थिति चिंताजनक ही थी। रोगियों की मृत्यु चाहे प्रथम दिनों में होती थी या कुछ महीनों बाद, उसका कारण एक ही था: रोग के उग्र होने के समय रोगी को वैसी सहायता नहीं मिल पाती थी, जैसी आज निर्विलंब हृदलोचन के विभाग दे रहे हैं; ये विभिन्न नगरों में संगठित किये गये हैं और पूरे देश में इनकी कुल संख्या 900 के करीब है! इसीलिये आज हमारे बीच हजारों की संख्या में ऐसे लोग जी रहे हैं, जिन्हें तीस क्या बीस ही वर्ष पुराने विचारों के अनुसार कब के स्वर्गवासी हो जाना चाहिये था। लेकिन आज वे एक क्या, दो-तीन इन्फार्क्त सहन करके भी, और कुछ तो 'अपनी मृत्यु' से गुजरकर भी पूर्ण सृजनात्मक जीवन व्यतीत कर रहे हैं। इनमें से कई लोग स्वास्थ्यवर्धक क्रीड़ा का भी अभ्यास करते हैं (इसका बोझ पहले से नाप-तौल कर निश्चित कर लिया जाता है; उदाहरण के लिये, वे स्कीइंग करते हैं)।

हृदरोगियों के जीवन के लिये सबसे खतरनाक क्षण में उनकी रक्षा 'निर्विलंब सहायता' और 'गहन प्रेक्षण-विभाग' के डाक्टर करते हैं। इसके बाद रोगी सामान्य अस्पताली वार्ड में पहुँचाया जाता है, और उसकी जीवन-चर्या परंपरागत रूप ग्रहण करती है, हर दिन डाक्टरी जाँच होती है: हृदय सुनना, नब्ज गिनना, दाब नापना, आदि। बार-बार गंभीर जीवरसायनिक या विद्युहृदलेखी अन्वीक्षण होते हैं, या फिर पराध्वनि की सहायता से ऊतक के क्षत भाग की सीमा निर्धारित की जाती है। सही जीवन-चर्या, देख-भाल, खान-पान के साथ-साथ सूई और टैबलेट – ये तो रहते ही हैं। अब रोगी को महीने भर

बिना हिले-डुले बिस्तर पर लेटे रहने को नहीं कहते। (याद है कि पंद्रह साल पहले एक शहरी अस्पताल में एक रोगी को डाक्टरी सलाह दे रहा था ; डाक्टर ने उसे इतना डरा दिया कि वह दो महीने से अधिक समय तक बिस्तर पर ही लेटा रहा और जब मैंने कहा कि उसे तो कब के उठकर चलना-फिरना शुरू कर देना चाहिये था, तो उसे विश्वास ही नहीं हुआ ...) विश्राम की सचमुच में आवश्यकता सिर्फ रोग के संकट-काल में होती है, और वह भी परम निरपेक्ष विश्राम की आवश्यकता नहीं होती। ज्यादा समय तक शांत लेटे रहने से अवप्रवेगन (गति की अपर्याप्तता) के प्रकोप शुरू हो जाते हैं। जितना ही अधिक समय तक यह अवस्था रहेगी, रोगी के लिये यह उतना ही नुकसानदेह होता जायेगा। 'गहन प्रेक्षण-विभाग' के गंभीर से गंभीर रोगी को भी हम सलाह देते हैं कि जैसे ही वह अपने को इस लायक महसूस करे, बिना किसी सहायता के खुद करवटें बदलना शुरू कर दे। तीसरेचौथे दिन हम उसे स्वयं बैठने की अनुमति दे देते हैं और दो हफ्ते बाद वह चलने-फिरने लगता है।

हमारे कुछ विदेशी कलीग – आस्ट्रियायी और अमरीकी – सक्रियता द्वारा चिकित्सा का प्रयोग कुछ ज्यादा ही तीव्रता से करते हैं : दूसरे ही दिन रोगी को खड़ा कर देते हैं, नवें दिन घर भेज देते हैं, क्योंकि रोगी को तल्पालय में रखने का खर्च बहुत है और संयुक्त राज्य अमरीका में यह खर्च रोगी को ही वहन करना पड़ता है। सिर्फ समाजवादी देश में सारा चिकित्सा-व्यय राज्य द्वारा वहन होता है। इसके अतिरिक्त, हमारे अधिकांश रोगी तल्पालय से सीधे हृदलोचनी स्वास्थ्य-आश्रम (सैनेटोरियम) भेजे जाते हैं, जहां लंबे समय तक पुनर्स्थापक

चिकित्सा होती है, तल्पालय या अस्पताल से जो लाभ हुए होते हैं, उनका स्थायीकरण होता है।

निश्चय ही सक्रिय दिनचर्या का प्रयोग हम इसलिये शुरू कर पाये हैं कि हमारे पास अब अच्छी से अच्छी दवाएं हैं, जिनकी सहायता से हृदय क्या, सारे शरीर में सूक्ष्म जीवरसायनिक प्रक्रियाओं को नियंत्रित किया जा सकता है। नयी दवाओं की खोज में सारी दुनिया लगी हुई है। हम भी लगे हैं। सफलताएं भी मिली हैं। सिर्फ इसलिये कि रोग-प्रक्रिया के विकास में नार्विक, हृत्कुंभिक तथा अन्य अंग-तंत्रों की व्यतिक्रिया किस प्रकार होती है, इसकी एक नयी समझ मिली है।

नींव

मेरी युवावस्था के दिनों अतितान-रोग तथा अन्य हृत्कुंभिक रोगों की क्रिया-विधि को अलग-अलग तरह से समझाने वालों के बीच गर्मागर्म बहस छिड़ी हुई थी। बहस में भाग लेने वाले सभी अतिवादी थे, कोई भी यह मानने को तैयार नहीं था कि दूसरा पक्ष भी गंभीर है, वह दूसरे प्रकार की संवृत्तियों को समझा रहा है, और यह कि वास्तविकता में खोजें हमेशा एक-दूसरे की पूरक होती हैं। वृक्कीय अतितान का सिद्धांत मानने वाले लोग नर्ववादी अन्वीक्षकों के तर्क मानने से इन्कार कर रहे थे। और कट्टर नर्ववादी वृहत गोलार्ध के वल्कुट में होने वाली घटनाओं को छोड़कर और किसी भी बात की कोई भूमिका मानने को तैयार नहीं थे, और इनमें स्त्रेस के बारे में कनाडियन रोगोशरीरलोचक हांस सेलिये और उनके शिष्यों के कार्य अत्यंत महत्त्वपूर्ण थे।

'स्त्रेस' शब्द, आवश्यक हो या न हो, सभी इस्तेमाल करने लगे हैं। चूँकि अंग्रेजी में इसका अर्थ तनाव है, इसे हमेशा असाधारण घटनाओं – विपत्तियों, दुखद स्थितियों – से संबद्ध किया जाता है, जो मानसिक चोट पहुँचा सकती हैं।

खुद सेलिये ने इस शब्द से उन सभी संवृत्तियों का संकुल द्योतित किया था जो किसी अविशिष्ट घटक के प्रभाव से उत्पन्न होती हैं। चौथे दशक के आरंभ में ही उन्होंने देखा था कि प्रयो-गाधीन जंतुओं में भिन्न परजात वाह्य रसायनिक द्रव्य अंतर्स्रावी ग्रंथियों के कार्य में लगभग समान प्रकार के परिवर्तनों का एक पूरा तंत्र उत्पन्न कर देते हैं। परिवर्तन बिल्कुल समान नहीं होते, पर बहुत-सी बातों में मिलते-जुलते हैं। इससे सैलिये इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि भिन्न असाधारण द्रव्य जीव में एक मानक अनुकूलक प्रतिक्रिया उत्पन्न करते हैं, जिसे अनुकूलन का सामान्य सिंद्रोम कहते हैं।

आगे चलकर वर्षों की लंबी अवधि में रोगोशरीरलोचकों, अंतर्स्रावीलोचकों और खुद सेलिये ने शरीर की भिन्न प्रक्रियाओं में हर्मोनों की भूमिका का सूक्ष्मता से अध्ययन किया, अनुकूलन और कई रोगों के विकास में अंतर्स्रावी तंत्र 'अधोवर्ध – अधि-वृक्क' का महत्त्व स्थापित किया, ज्ञात किया कि अधिवृक्कों द्वारा स्रावित हर्मोन – काथेखोलामीन (आद्रेनालीन, नोर-आद्रेना-लीन) और कोर्टिकोस्टेरायड (कोर्टीजोन आदि) – द्रव्य-विनिमय में (विशेषकर विद्युविश्लेषकों के विनिमय में) परिवर्तन के विरुद्ध होने वाली प्रतिक्रिया को पूर्वनिर्धारित करते हैं। इन प्रक्रियाओं में वृक्कों द्वारा स्रावित रेनीन की भूमिका भी ठीक-ठीक ज्ञात कर ली। अमरीकी रोगोशरीरलोचक राब ने हृत्कुं-भिक उपकरण के कार्य-संचालन में अनुकंपी नर्व-तंत्र की अवस्था

और इससे संबंधित हर्मोन-काथेखोलामीनों का महत्त्व स्पष्ट किया।

राब के पहले भी चौथे-पाँचवें दशक में अकादमीशियन ओर्बेली और उनके सहकर्मियों ने इस क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण परिणाम प्राप्त किये थे। अतितान-रोगों के बारे में लांग तथा म्यास्निकोव के सिद्धांत की बात चलती थी, तो उसके इस पक्ष पर ध्यान ही नहीं देते थे।

लेकिन सातवें दशक में अंततः सभी एकत्रित तथ्यों के संश्लेषण की प्रवृत्ति उत्पन्न हुई। रोग का स्त्रेस वाला सिद्धांत और रोग को नर्वजनित मानने वाला सिद्धांत एक दूसरे का उन्मूलक नहीं, पूरक बनने लगे। आधुनिक तत्पविद और प्रयोगकर्त्ता स्त्रेस को शरीर की सभी नियामक यंत्रक्रियाओं के तैयार रहने की सहज अवस्था मानते हैं। लेकिन शरीर पर अत्यधिक दबाव होने पर (किसी बहुत बड़े बल के घटक के प्रभाव से, किसी सामान्य बल के घटक के प्रभाव से या किसी सामान्य बल के असंख्य घटकों के प्रभाव से) नियामक यंत्रक्रियाओं की मुस्तैदी 'टूट' जाती है। जब अनुकूलन की समस्या बहुत ज्यादा कठिन होती है, तो शरीर गलत नार्विक, हर्मोनिक और (इसीलिये) हृत्कुंभिक प्रतिक्रिया द्वारा, विद्युविश्लेषकीय विनिमय तथा अन्य जीवरसायनिक परिवर्तनों द्वारा उत्तर देने लगता है। 'अनुकूलन संबंधी रोग' और साथ ही हृदलोचनी रोग इसी प्रकार से उत्पन्न होते हैं। उदाहरणतया, 1963 में म्यास्निकोव ने अपने सहकर्मियों के साथ दिखाया कि हृत्पेशी में दो प्रकार के परिवर्तन होते हैं: 'किरीटी' और 'अकिरीटी', अर्थात् किरीटी कुंभियों की तानता के नार्विक नियंत्रण में गड़बड़ी से उत्पन्न होने वाले तथा अन्य कारणों से उत्पन्न होने वाले। पिछले

वर्षों में स्त्रेस और 'अनुकूलन-रोगों' की क्रियाविधि पहले से अधिक स्पष्ट हुई है। यहां अधिक विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं है। पाठक यदि महसूस कर सकेंगे कि हमारी अवधारणाएं किस प्रकार विकसित हुई हैं और यह कि इस विकास से क्या व्यावहारिक लाभ हुए हैं, तो यह पर्याप्त रहेगा।

लाभ इस प्रकार हुआ। हम लोग अतितान, हृत्पेशी के इन्फार्क्त और अन्य हृत्कुंभिक रोगों की विकास-क्रिया को एक नयी तरह से समझने लगे। इसलिये एक प्रकार की स्थितियों में अनुकंपी नर्व-ग्रंथियों पर अभिक्रिया करने वाली दवाएं देने लगे, दूसरी स्थितियों में किसी हर्मोन की क्रिया में बाधा पहुँचाने वाली दवाओं का प्रयोग करने लगे और कुछ स्थितियों में कैल्सियम, पोटाशियम या मैग्नेशियम जैसे विद्युविश्लेषकों का संतुलन बनाये रखने वाले द्रव्य देने लगे। यह तो दवाओं के असर को मोटा-मोटी तौर पर समझा रहे हैं, अन्यथा उनकी क्रिया-विधि कहीं अधिक सूक्ष्य और जटिल है। वास्तविकता में हृदलोचक कभी भी किसी अकेले साधन का उपयोग नहीं करता, वह कई प्रकार की दवाओं के बीच मेल बैठाने की कोशिश करता है। दवाओं की सहायता से सूक्ष्म जीवरसायनिक प्रक्रियाओं को नियमित करके हम रोग के घातक परिणामों को रोक सकते हैं। यदि ठीक समय पर इलाज शुरू हुआ है, तो इन्फार्क्त को विकसित होने से रोक सकते हैं। अन्य स्थितियों में हृदय के ऊतकों की आरंभ हुई क्षति को रोक सकते हैं, जिससे खतरा कम हो जा सकता है।

...लोष्टन की समस्या पर काम करते समय मैं एक रोचक विचार के प्रति आकर्षित हुआ। शुरू में तो मुझे (मुझे क्या, औरों को भी) सब कुछ बिल्कुल साफ लग रहा था। यदि इन्फार्क्त

का कारण ज्यादातर लोष्ट और रक्त-स्कंदन द्वारा किसी किरीटी धमनी का अवरोध है, तो फिर कठिनाई की क्या बात है ? स्कंदन को जल्द से जल्द निकाल दीजिये, हृदय की पेशी का भूखा भाग शायद जी उठेगा और इन्फार्क्त खत्म हो जायेगा ! इसीलिये तो करोर्जक युद्ध के पहले से ही क्षतहृत्पेशी में रक्त-संचार पुन-स्थापित करने के रास्ते ढूँढ़ रहे थे और सातवें दशक में हृदय की धमनीय कुंभियों के आपरेशन की गंभीर विधियां विकसित हुईं, जैसे – कुंभी के अवरुद्ध भाग को निकालकर उसे धमनी के दूसरे भाग से बदल देना। लेकिन तीव्र इन्फार्क्त की चिकित्सा में ये विधियां कारगर नहीं होती थीं।

थेरापकों का सपना था कि कुंभी में रक्त का रास्ता दवाओं की सहायता से ही साफ कर दिया जाये। यह बहुत पहले ज्ञात था कि शरीर के ऊतकों में प्रतिस्कंदक, अर्थात् खून को 'फटने' से रोकने वाला द्रव्य – हेपारीन – बनता है। जंतुओं के यकृत से प्राप्त किया गया हेपारीन वर्षों से हृदय के रक्तागमनरोध तथा अन्य रोगों के इलाज में प्रयुक्त हो रहा है ताकि लोष्टन का शुरू होना या बढ़ना रोका जा सके। यह भी ज्ञात था कि शरीर एक फर्मेंट (खमीर) भी तैयार करता है, जो फिब्रीन (स्कंदित रक्त में उपस्थित अघुलनशील प्रोटीन) को घुला देता है। (इसे फिब्रीनोलीजीन – फिब्रीन-विलायक कहते हैं)।

प्रतिस्कंदक और फिब्रीन-घोलक प्रसाधन ढूंढ़ने की समस्या पर काफी कुछ लिखा-पढ़ा जा रहा था। अमरीकी अन्वीक्षक फिब्रीनोलीजीन को सक्रिय बनाने की विधि ढूंढ़ रहे थे, जो रक्त की प्लाज्मा में निष्क्रिय रूप में उपस्थित रहता है। बाद में उन्होंने एक प्रसाधन बनाया – स्त्रेप्तोकीनास, जो स्त्रेप्तोकोक नामक बैक्टेरिया से प्राप्त होता है। मुझे उस समय एक दूसरी

विधि अधिक कारगर लग रही थी – रोगी के रक्त में डोनर के रक्त से निकाला गया सक्रिय फिब्रीनोलीजीन आधान कराना। 'निकालना', 'आधान कराना', 'लोष्ट को घुला लेना' – यह सब कहना आसान है, लेकिन विश्वस्त और सुविधाजनक प्रसाधन प्राप्त करने में 20 से अधिक वर्ष लग गये। इस तरह के प्रसाधन अब देश-विदेश हर जगह प्रयुक्त हो रहे हैं, हालाँकि इससे संबंधित कई प्रश्न अभी तक अनुत्तरित हैं। उस समय बहुत मुश्किल से मैंने मास्को राज्य विश्वविद्यालय के दो शरीर-लोचकों का सहयोग प्राप्त किया – कुदर्याशोव और आंद्रेयेन्को का। ये अब काफी विख्यात हो चुके हैं।

लंबी अवधि के कठिन श्रम के पश्चात हमने प्रथम प्रसाधन प्राप्त किया। हम ने सिद्ध किया कि प्रयोग में यह निश्चय ही लोष्ट को घुला देता है और इस प्रसाधन से खतरनाक इमूनी प्रतिक्रियाएं उत्पन्न नहीं होती हैं (यद्यपि यह प्रोटीन ही है)। परख-नली में सब ठीक-ठाक आ रहा था, सब बड़ा आसान लग रहा था। संस्थान में हमने इस कार्य के बारे में प्रतिवेदन देना शुरू किया। सामग्री तो विवादास्पद थी ही, उसका मूल्यांकन करने वाले लोग भी शक्की थे। आयुरक लोग कुछ ज्यादा ही संशयवादी होते हैं। कारण भी है: कितनी बार उन्हें निराशा झेलनी पड़ी है; हर नयी विधि में उन्हें आशा की नयी किरण झलकती है, जो फिर जल्द ही धूमिल हो जाती है। हमारे काम में जो भी त्रुटियां थीं, वे छिपी नहीं रहीं। पर अफसोस कि उन्हें त्रुटियां नहीं माना गया; कहा गया कि हम वैज्ञानिकों की आँखों में धूल झोंकना चाहते थे, पर इनसे असलियत खुल गयी। एक विरोधी तो हमारे म्यास्निकोव पर भी बरस पड़े कि तुम्हारा शिष्य क्या कर रहा है। म्यास्निकोव ने मुझे बात-

चीत के लिये बुलाया। वे काम के बारे में पूछताछ करने लगे। हर सामग्री को ठोक-बजा कर जाँचते रहे, फिर अचानक, जिसकी विरोधियों को कोई आशा नहीं थी, म्यास्निकोव ने हमारे काम को आशीर्वाद दे दिया: "काम जारी रखें!" यह उनका ढंग था। वे हमारी कल्पना को उड़ान भरने की पूरी स्वतंत्रता दिया करते थे, चाहे वह सर्वमान्य विचारों या खुद उनके विचारों के ही विरुद्ध क्यों न चली जाये। सिर्फ उसे विश्वसनीय होनी चाहिये ताकि उसकी जाँच की जा सके। मैं भी अपने शिष्यों को अपने विचारों और निर्णयों में बांधकर नहीं रखता। उन्हें तरह-तरह की कल्पना करने की स्वतंत्रता देता हूँ, उन्हें खुद ढूंढ़ने का मौका देता हूँ। मैं दखल तभी देता हूँ, जब कल्पना को जमीन पर उतारना कठिन होने लगता है।

... फिब्रीनोलीजीन की खोज हम लोग आगे बढ़ाते गये। बहुत सी बातों को सुस्पष्ट किया। जब हम लोग तल्पालय में प्रसाधन प्रयुक्त करने लगे, तो और भी अनेक कठिनाइयां सामने आयीं। हम लोग फिब्रीनोलीजीन का घोल रक्त में बूंद-बूंद आधान कराते थे। लोष्ट को घुलाने के लिये रक्त में इस खमीर की पर्याप्त ऊंची सांद्रता लंबी अवधि तक बनी रहनी चाहिये। लेकिन फिब्री-नोलीजीन ऐसा प्रोटीन है, जो रक्त में लंबे समय तक अपना अस्तित्त्व नहीं बनाये रख सकता। शरीर तुरंत प्रतिक्रिया करता है और प्रोटीनघोलक खमीरों की सहायता से घुला देता है। जब हम लोग प्रसाधन का दुबारा आधान कराते थे, तो कभी-कभी इमूनी प्रतिक्रिया भी शुरू हो जाती थी, क्योंकि जो प्रोटीन हम आधान कराते थे, वह पराये रक्त से निकाला गया था। फिर इस इमूनी प्रतिक्रिया के परिणामों से संघर्ष करना पड़ता था। कुछ स्थितियों में वांछनीय प्रभाव मिलते थे, तो कुछ
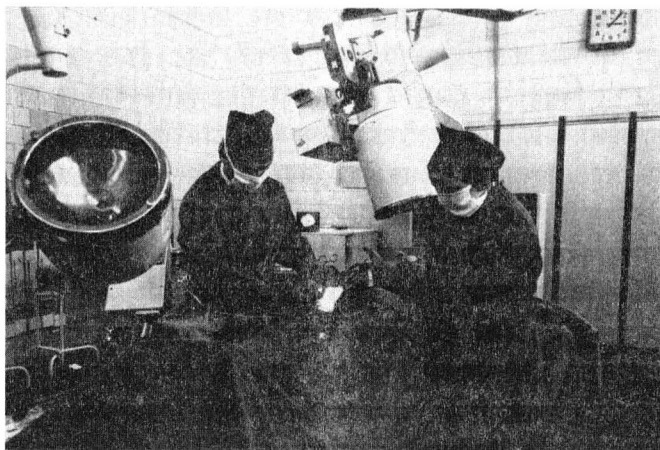
आपरेशन-हौल में

में नहीं भी। स्वाभाविक है कि हमारी विधि को कोई मान्यता नहीं मिल पा रही थी।

1964 में मुझे वाशिंगटन (अमरीका) के समीपस्थ एक वैज्ञानिक नगर बेटेस्डा के हृदय-संस्थान में फिब्रीनोलीजीन के अपने प्रयोग पर एक प्रतिवेदन पढ़ने का मौका मिला। मुझे खुशी हुई कि वहां लोगों ने हमारे आँकड़ों को गंभीरता से लिया। पता चला कि हम लोग लगभग समान स्तर पर काम कर रहे थे और समान कठिनाइयों से टकरा रहे थे।

आगे बढ़ने में सफलता तभी मिली जब किरीटी धमनियों के जोंडन और किरीटोग्राफी की विधियां अच्छी तरह आत्मसात कर ली गयीं। किस धमनी-शाखा में कहां पर लोष्टन हुआ है, यह एक्सरे-चित्र से निर्धारित किया जाता है। चित्र को स्पष्ट करने के लिये धमनी के विचाराधीन भाग और निकटस्थ अंगों

के बीच प्रकाश-विपर्यय उत्पन्न करने के लिये जोंड को किरीटी धमनी के मुहाने तक लाना और उससे विपर्यासकारी द्रव्य छिड़कना – यह सब पहले करोर्जकों ने सीखा और उनके बाद हम ने जोंड के सहारे धमनी में सीधा लोष्ट की ओर प्रसाधन भेजना सीखा, जिससे क्षति-स्थल पर आवश्यक द्रव्य की सांद्रता ऊँची की जा सके। (यदि छात्र-जीवन में मुझसे कोई कहता कि हम औजार को जीते-जागते आदमी की किरीटी कुंभियों में घुसा सकेंगे, मैं कभी भी विश्वास नहीं करता ! ...)

इन विधियों से पहले की अपेक्षा कहीं बेहतर परिणाम मिलने लगे, पर ऐसे नहीं, जिनकी हर स्थिति में आवश्यकता होती है। प्रोटीनघोलक खमीर फिब्रीनोलीजीन को भी और स्त्रेप्तोकिनाज को भी कुछ ज्यादा ही तत्परता से घोल देता था। अब शरीर की रक्षात्मक प्रतिक्रिया से प्रसाधन की रक्षा करनी थी, जिसके लिये हमें आधुनिक रसायन और जीवरसायन की ओर मुखातिब होना पड़ा।

... आयुर में जितनी भी क्रांतिकारी घटनाएं घटी हैं, वे उसकी निजी संकीर्ण और व्यावहारिक खोजों के परिणाम नहीं थीं, उनका आधार संपूर्ण प्रकृतिविज्ञान की मौलिक खोजें थीं। उदाहरण हैं: कोशिका-सिद्धांत का विकास, या सूक्ष्मजीवलोचन का जन्म। यह सब पिछली शती में हुआ था। इस बार भी यही बात हुई – पिछले बीस वर्षों से आण्विक जीवलोचन और आण्विक जंतिकी (आनुवांशिकता) का विकास हो रहा था (और अभी भी हो रहा है)। हमारी आँखें उत्सुकता से इस क्षेत्र पर लगी हुई थीं, जिसमें आनुवांशिक सूचनाओं के डिकोडन तथा जीवलोचनी और्जिकी पर अन्वीक्षण हो रहे हैं। हम मूलभूत विज्ञानों

से नये उपहार की आशा लगाये बैठे थे।

लेकिन सैद्धांतिक प्रकृतिविज्ञान के विकास में रुचि रखना एक बात है और अपने अन्वीक्षण को ऐसा रूप देना कि मूलभूत विज्ञान आपके व्यावहारिक क्षेत्र में सचमुच सहायक हो, यह बिल्कुल दूसरी बात है। इसके अतिरिक्त, भिन्न क्षेत्रों में कार्यरत लोगों के आपसी संबंध भी सरल नहीं होते। आयुरक शुरू से ही जीवरसायनविदों को शंका की दृष्टि से देखते रहे हैं कि वे आयुर की विशेषताओं और आवश्यकताओं को नहीं समझते। जीवरसायनविद और जीवभौतिकविद आयुरकों को (और आयुरक-जीवरसायनविदों को भी) घमंड की दृष्टि से देखते थे कि ये लोग वस्तुओं को बहुत ही संकीर्ण दृष्टिकोण से देखते हैं (छिपाऊँ क्या, बात कुछ हद तक ठीक भी थी)।

दस वर्ष पहले अपने अन्य कलीगों की तरह मैं भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचा कि आण्विक स्तर पर खोज किये बिना हृदलोचन का काम अब नहीं चल सकता, इसके बिना वह सैद्धांतिक और व्यावहारिक आयुर का आधुनिक क्षेत्र नहीं बन सकता। मैंने म्यास्निकोव हृदलोचनी संस्थान में एक नयी प्रयोगशाला संगठित करने का प्रस्ताव रखा (म्यास्निकोव की मृत्यु के बाद थेरापिक संस्थान का नाम उन्हीं के सम्मान में रखा गया है)। उस समय अखिल संघीय हृदलोचनी वैज्ञानिक केंद्र के निर्माण की योजना पर पहले से ही विचार किया जा रहा था। इस प्रयोगशाला को भावी प्रायोगिक हृदलोचनी संस्थान की नीव का रूप लेना था।

उस समय मेरे साथ प्रोफेसर स्मिर्नोव काम करते थे। अभी वे इस संस्थान के निर्देशक हैं। साथ ही वे सोवियत आयुर अकादमी में अकादमीशियन और सोवियत विज्ञान अकादमी के पत्र-सदस्य हैं। वे खमीरों के जीवरसायन के विशेषज्ञ हैं,

सच्चे आण्विक जीवलोचक और जांतिकीविद भी हैं। वे मुझे समझाने लगे: "देखिये, इस प्रयोगशाला में आयुरकों को नहीं, रसायनविदों और जीवरसायनविदों को रखा जाये!..." उस समय मुझे पाव्लोव की याद आयी – वे यही पसंद करते थे कि उनके प्रयोगों का प्रेक्षण ऐसे लोग करें जो शरीरलोचन से बहुत दूर हों क्योंकि उनकी निगाह में एक 'ताजगी' होती है, उनका ध्यान ऐसी बातें आकर्षित कर सकती हैं, जिन्हें विशेषज्ञ लोग सामान्य बात मानकर छोड़ देते हैं। मैं स्मिर्नोव के साथ सहमत हो गया। हम लोगों ने उस प्रयोगशाला में अकादमीशियन बेलोजेर्स्की के शिष्यों को आमंत्रित किया, मास्को राजकीय विश्वविद्यालय के जीवकार्बनिक रसायन की प्रयोगशाला के सहकर्मियों को बुलाया। चूँकि फिब्रीनोलीजीन के उपयोग की कठिनाइयों से हम सभी चिंतित थे, इसलिये एक विशेष ग्रुप संगठित किया गया, जो फिब्रीनोलीजीन या स्त्रेप्तोकिनाज को विशेष वाहक द्रव्य के कणों के साथ जोड़ने की समस्या पर काम करने लगा (यह विशेष द्रव्य ही फिब्रीनोलीजीन को प्रोटीन घोलक खमीर से बचाता)। ग्रुप के नेता रसायनविद तोर्छीलिन थे।

यह समस्या के हल की बिल्कुल ही आयुरी विधि थी। हम आयुरकों की पहले एक ही कोशिश रहती थी कि रक्त में औषध की महत्तम संभव सांद्रता बनायी जाये – पहले पूरे शरीर में, फिर अलग से ग्रस्त कुंभि में – क्योंकि वह बहुत जल्द नष्ट होने लगती थी। पर औषध अपना कार्य करती रहे, इसके लिये ऐसी सांद्रता की बिल्कुल ही आवश्यकता नहीं थी। किसी भी खमीर का अणु, जबतक वह नष्ट (विघटित) नहीं हो जाता, जीवरसायनिक प्रतिक्रिया में अनंत बार भाग लेते रह सकता है।

उस समय खमीरों से चिकित्सा का भविष्य अच्छा माना

जा रहा था। लेकिन जिन कठिनाइयों से हम जूझ रहे थे, वे सभी को परेशान कर रही थीं, जो इस क्षेत्र में काम कर रहे थे। खमीर की रक्षा के लिये वाहक-द्रव्य की खोज में सभी देश लगे थे। अमरीकी रसायनविद छांग ने अच्छे परिणाम प्राप्त किये: उन्होंने पोली-आमीद के सूक्ष्म गोलाकार कैप्सुल तैयार किये। लेकिन यह वाहक अप्राकृतिक था, इसलिये इससे नयी जटिलताएं उत्पन्न हो गयीं।

अंत में कई सूक्ष्म समस्याएं हल करने के बाद तोर्छीलीन अपने सहकर्मियों के साथ एक कारगर वाहक-पोलीमेर बनाने में सफल हुए। यह पोलीमेर आरारोट जैसे प्राकृतिक पोली-साखारीदों से मिलता-जुलता था, इसीलिये यह कोई अवांछ-नीय प्रतिक्रिया नहीं देता था। सबसे बड़ी बात यह थी कि यह शरीर में आवश्यकतानुसार बहुत जल्द फैलता था। जंतुओं पर प्रयोग में जब हमने इनकी धमनियों में इस वाहक-द्रव्य से जुड़े फिब्रीनोलीजीन का आधान पहले से सौ गुनी कम मात्रा में किया, तो लोष्टन के क्षेत्र में उसकी सांद्रता पहले से दस गुनी अधिक निकली। बड़ी कुंभि में लोष्ट का पूर्ण विलयन (वि-घटन के साथ) डेढ़ घंटे में संपन्न हो गया।

हृदलोचनी केंद्र द्वारा निर्मित इस प्रसाधन का अब औद्यो-गिक स्तर पर उत्पादन हो रहा है; चिकित्सा के लिये इसका उपयोग सभी कर रहे हैं। इसके निर्माण-कार्य के दौरान अप्रत्या-शित रूप से कई अन्य समस्याओं के हल का रास्ता सूझा, जो हृदलोचन और रोगोशरीरलोचन दोनों ही के लिये महत्त्व रखती हैं। सफलता का रहस्य यही है कि युवा अन्वीक्षक आधुनिक भौतिकीय रसायन की विधियों से लैस होकर अपनी समस्याएं हल कर रहे थे। तोर्छीलिन का ग्रुप अब प्रायोगिक हृदलोचन

की प्रयोगशाला में परिणत हो चुका है, वह मास्को राजकीय विश्वविद्यालय और सोवियत विज्ञान अकादमी के रसायनिक भौतिकी संस्थान के साथ बराबर संपर्क बनाये रखता है।

यह खोज मुझे विशेष प्रिय है क्योंकि इसका संबंध ऐसी समस्या के साथ है, जिसे मैंने 20 वर्ष से अधिक समय अर्पित किया है। यह खोज अखिल संघीय हृदलोचनी वैज्ञानिक केंद्र के रसायनविदों और जीवरसायनविदों के अन्वीक्षणों का कोई एकमात्र विशेष परिणाम नहीं है। आज के सैद्धांतिक हृदलोचन के लिये, जो अपनी समस्याओं का हल मूलभूत वैज्ञानिक गवेषणाओं में ढूंढ़ता है, पेशीय कोशिकाओं में ऊर्जा का वहन जैसी महत्त्वपूर्ण प्रक्रियाओं का अन्वीक्षण अधिक सामान्य बात है। इन कार्यों के परिणाम 8 वर्ष पहले सामने आये थे और उनका मूल्यांकन सच्ची खोज के रूप में किया गया था।

समस्या को निम्न शब्दों में व्यक्त किया जा सकता है: "ऊर्जा है तो जीवन है, ऊर्जा नहीं है, तो जीवन भी नहीं है"। हृदय रक्त की अगली मात्रा रक्तवाही मार्ग में धकेल सके (यह काम उसे हर मिनट औसतन 70 बार करना पड़ता है), इसके लिये आवश्यक है कि इसकी पेशियों के करोड़ों तंतुओं में से हरेक तक हर बार आज्ञा पहुंचे। और नार्विक स्पंद उत्पन्न हों, इसके लिये ऊर्जा चाहिये। मध्यवर्ती हर्मोन के अणु उत्पन्न हों, इसके लिये भी ऊर्जा चाहिये।

कोशिका के बारे में हमारा ज्ञान अब बिल्कुल बदल चुका है। पहले उसे हम (मोटा-मोटी) द्रव से भरी एक बोरी मान लेते थे, जिसमें भिन्न द्रव स्वतंत्र रूप से तैरते रहते थे। लेकिन आप तो जानते हैं कि कोशिका-द्रव्य की बनावट बहुत ही जटिल है। उसमें कोशिका के नन्हे-नन्हे अनेक अंग हैं: नाभिक, उपनाभिक,

सूत्रलव, रीबोपिंड (रीबोनुक्लेइक पिंड), गोल्दी उपकरण, कोशिका की असंख्य आंतरिक झिल्लियां; और पेशीय कोशिका में संकोची प्रोटीन – आक्तीन और मीयोजीन – की अनेकानेक डोरियां। सभी द्रव्य नियत स्थानों – अंगों, झिल्लियों आदि – के साथ बंधे हुए हैं। कोशिका में कम से कम सोडियम के आयनों और मीयोजीनी डोरियों तक ही पहुँचकर उन्हें आज्ञा सुना सकें, इसके लिये आयनों को झिल्ली के पार पंपित करना होगा, और इसके लिये भी ऊर्जा चाहिये। संकोची प्रोटीन अपना काम कर सकें (सिकोड़ने का), इसके लिये भी ऊर्जा चाहिये। अंततः, ऊर्जा को 'आयनी पंपों' और प्रोटीनों तक पहुँचाने के लिये भी ऊर्जा खर्च करना पड़ता है!

नियम हर कोशिका के लिये एक ही हैं, चाहे उसका काम कुछ भी हो: पेशीय कोशिका के लिये भी, नार्विक कोशिका के लिये भी, हर्मोन या खमीर के अणु बनाने वाली कोशिका के लिये भी और लाल रक्त-कण – एरीत्रोसीत – के लिये भी, जिसका काम आक्सीजन को अवशोषित और उत्सर्जित करना है।

हमें फिर से जीवलोचन का इतिहास देखना होगा।

...हमारी शती के आरंभ में ही स्पष्ट हो गया था कि जंतु के शरीर में ऊर्जा का स्रोत कार्बोहाइड्रेट (ग्लुकोज) है, जो पेशियों में ग्लीकोजन पोलीसाखारीद के रूप में जमा होता है। तीसरे दशक में जीवरसायनविदों ने शरीर में इसके रूपांतरणों की प्रक्रिया (ग्लीकोविलयन) का बहुत सुडौल आरेख प्रस्तुत किया, जो वास्तविक था। उन्होंने इस आरेख में प्रक्रिया का तर्क-संगत अंत भी दिखाया कि कोशिका में ग्लुकोज के विघटन से ऊर्जा कैसे उत्सर्जित होती है।

इसके बाद जीवरसायनविदों ने पेशीय ऊतक में फोस्फोरस

के यौगिक ज्ञात किये – क्रेयाटीन फोस्फेट, आडेनोजीन त्रिफोस्फोरिक अम्ल (ATP) और इसके दो 'संबंधी' – आडेनोजीन द्विफोस्फेट (ADP) और आडेनोजीन मोनोफोस्फेट (AMP) – जिनमें गंधक के तीन नहीं, दो और एक परमाणु होते हैं। उन्होंने पता लगाया कि इनके और क्रेयाटीन फोस्फेट के बीच शरीर में कोई स्थायी प्रतिक्रिया भी संभव है, जिसके दौरान फोस्फेट-ग्रुपों (फोस्फेट) का आदान-प्रदान होता रहता है।

ऐसा खमीर भी है जो इस ग्रुप को क्रेयाटीन फोस्फेट से अलग करके उसे ADP से संयुक्त कराता है, जिसके फलस्वरूप वह ATP में बदल जाता है; क्रेयाटीन फोस्फेट में सिर्फ नाइट्रोजनी द्रव्य क्रेयाटीन बच जाता है। पर यही खमीर ठीक उल्टा काम भी करता है: ATP से फोस्फेट अलग करके उसे क्रेयाटीन से मिलाकर पुनः क्रेयाटीन फोस्फेट और ADP बना देता है। शुरू-शुरू कोई भी नहीं समझ पाया कि आखिर इसकी जरूरत क्या है। 1930 में एक विश्व-विख्यात विज्ञान-पत्रिका के एक ही अंक में दो निबंध छपे। इनमें ऐसी खोजों के बारे में लिखा गया था, जिनसे विज्ञान में एक नयी क्रांति आ गयी। लेकिन उस समय लगता था कि ये दोनों निबंध परस्पर विरोधी हैं।

प्रथम निबंध में डेनमार्क के वैज्ञानिक लुंड्सगार्ड ने अपने प्रयोगों के बारे लिखा था, जिनके अनुसार पेशियां तभी तक संकुचित होती हैं, जबतक उनमें निहित सारा क्रेयाटीन फोस्फेट खर्च नहीं हो जाता। इसका मतलब था कि पेशी के कार्य के लिये ऊर्जा का स्रोत क्रेयाटीन फोस्फेट है। दूसरा निबंध कजान के युवा प्रोफेसर व्लादीमिर एन्गेलगार्द का था। इसमें उन्होंने 'श्वसन फोस्फोरीलीकरण' की प्रतिक्रिया का वर्णन

किया था, जिसे अब आक्सीकारी फोस्फोरीलीकरण कहते हैं। उनके प्रयोगों से स्पष्ट होता था कि तीव्रता से आक्सीजन आत्मसात करने वाली कोशिका में ATP का संश्लेषण भी बहुत तेजी से होता है। एन्गेलगार्द अकादमीशियन हुए, उनकी गणना सचमुच ही आण्विक जीवलोचन के जन्मदाताओं में होती है। उनकी खोज के बाद विभिन्न वैज्ञानिकों की अनेक कृतियां सामने आयीं। सभी तथ्य यही कहते थे कि ATP नाना प्रतिक्रियाओं के फलस्वरूप निरंतर संश्लिष्ट होता रहता है, तरह-तरह की प्रक्रियाओं के लिये ऊर्जा का यही एकमात्र स्रोत है और यह ऊर्जा ATP से फोस्फेट अलग होने की क्रिया में उत्सर्जित होती है। 1940 में एन्गेलगार्द और ल्यूबीमोवा ने एक और महत्त्वपूर्ण खोज प्रस्तुत की: पेशीय प्रोटीन मीयोजीन खुद ही ATP से फोस्फेट अलग करने वाले खमीर का काम करता है। अतः मीयोजीन अपने कार्य के लिये स्वयं ऊर्जा अलग कर लेता है।

कुछ समय बाद यह ज्ञात हुआ कि पौधों में भी प्रकाश-संश्लेषण के फलस्वरूप ATP बनता है और कोशिकाओं में किसी भी प्रक्रिया के लिये ऊर्जा के स्रोत का काम करता है। यह इस बात का पूर्ण प्रमाण था कि ATP जीवन की एकमात्र और व्यापक 'और्जिक मुद्रा' है।

यह भी निर्धारित हुआ कि सभी महत्त्वपूर्ण प्रतिक्रियाएं, जिनमें ATP संचित होता है, कोशिका के नियत अंगों – सूत्रलवों – में ही चलती हैं। अब पेशीय कोशिकाओं में चलने वाले घटना-चक्र का निम्न आरेख मिलता है (जो हम हृदयलोचकों के लिये सबसे अधिक दिलचस्प है)।

... ATP सूत्रकणों में संश्लिष्ट होता है। वहां से वह विसरित होता है – स्वयं तैरता हुआ कोशिका के संकोची प्रोटीनों

तक पहुँचता है। मीयोजीन खमीर की तरह काम करता हुआ उससे फोस्फेट-ग्रुप को अलग कर देता है। विलगित ऊर्जा प्रोटीन-डोरियों के यांत्रिक संकोचन में खर्च होती है। पर क्रेयाटीन फोस्फेट की क्या जरूरत थी – यह स्पष्ट नहीं था। वह शायद कच्चा माल का काम करता था क्योंकि उसके और ATP के बीच प्रतिक्रिया सिर्फ एक दिशा में संभव है – ADP से ATP बनने की दिशा में।

प्रक्रिया अंत तक स्पष्ट लग रही थी। पर प्रकृति ने वैज्ञानिकों को एक और नियमसंगति की याद दिला दीं, जिसकी खोज बहुत पहले हो चुकी थी पर बाद में भुला दी गयी थी। बात सातवें दशक की है, जब सैद्धांतिक आयुर ने अपनी खोजें आण्विक स्तर पर आरंभ की।

पश्चिम जर्मनी के वैज्ञानिकों और इनसे स्वतंत्र रूप में आइसलैंड के वैज्ञानिकों ने रक्तागमनरोध और इन्फार्क्त के कारण हृत्पेशी के ऊतकों में होने वाले परिवर्तनों का अन्वीक्षण आण्विक स्तर पर शुरू किया। एक ऐसा तथ्य सामने आया, जिसे नया और विरोधाभासी माना गया। हृत्पेशी में इन्फार्क्त के क्षेत्र में, जहां पेशीय तंतुओं की संकोचन-क्षमता लगभग शून्य हो जाती है, ATP – इस 'और्जिक मुद्रा' – की मात्रा सामान्य के 80% से कम कभी नहीं होती। पर क्रेयाटीन फोस्फेट का वहां एक भी अणु नहीं होता...

यह और कुछ नहीं, 1930 में की गयी खोज की पुनरावृत्ति थी, पुनः वही निष्कर्ष आ रहा था: पेशीय प्रोटीन की संकोचन-क्षमता कोशिकाओं में ATP की नहीं, क्रेयाटीन फोस्फेट की उपस्थिति पर निर्भर करती है!

लेकिन अब इस तरह कोई यह प्रश्न नहीं उठा रहा था कि

पेशीय तंतुओं को आवश्यक ऊर्जा ATP से मिलती है या किसी और चीज से ; ATP का संश्लेषण कहां होता है, इसमें भी किसी को कोई शक नहीं था। (निश्चय ही सूत्रलवों में !) पर हृत्पेशी के स्वस्थ ऊतक में और संकोचन-क्षमता खो चुकी कोशिकाओं में ATP की मात्राओं का अंतर हमेशा ही लगभग 20% पाया गया है – इससे यह निष्कर्ष निकाला गया कि सामान्य कोशिका में 'और्जिक मुद्रा' ATP की दो निधियां हैं: 80% सूत्रलवों में जमा रहता है (संचित निधि) और 20% वहां होता है, जहां वह खर्च होता है (व्यय-निधि)। कारण है कि पेशीय सूत्रों – उसके संकोची प्रोटीनों – तक ऊर्जा का वही भाग पहुंचना चाहिये, जो तुरंत खर्च होने वाला हो। आखिर यही ऊर्जा तो पेशी-कार्य की मात्रा निर्धारित करती है !

मृत कोशिका में 'व्यय-निधि' पूरी तरह व्यय हो जाती है, इसीलिये उसमें ATP की मात्रा 20% से कम होती है। इसका मतलब है कि 'संचित निधि' में से ATP 'व्यय निधि' में नहीं पहुँच पाता। इस तरह ATP के वहन – ऊर्जा के एक निधि से दूसरी में वहन – की विधि के बारे में परिकल्पना उठी।

सूत्रलव में जैसे ही कोई संकेत पहुँचता है कि ऊर्जा भेजने की आवश्यकता है, खमीर क्रेयाटीन फोस्फोकीनेज तुरंत ATP का फोस्फेट-ग्रुप क्रेयाटीन के साथ मिला देता है। इस तरह से बना हुआ क्रेयाटीन फोस्फेट कोशिका-द्रव में यात्रा शुरू करता है, फिर पेशीय तंत्रिका के पास ऐसे ही खमीर के अणु ऊर्जा-मोचन की पिछली प्रतिक्रिया से बचे ATP -अणु के भग्नावेष – आडेनोजीन फोस्फेट – को फोस्फेट देकर ATP -अणु का नव-

निर्माण करते हैं। नवनिर्मित ATP पेशीय प्रोटीन द्वारा पुनः व्यय होने लगता है।

इस दोहरी प्रक्रिया का हर निधि में अपना-अपना चक्र चलता रहता है। सिद्धांत के साथ इस बात का पूरा-पूरा मेल बैठता है, क्योंकि प्रतिक्रिया को उत्क्रमणीय होना चाहिये : जहां ATP अधिक है, वहां क्रेयाटीन फोस्फेट का संश्लेषण होता है और जहां क्रेयाटीन फोस्फेट अधिक है वहां ATP का निर्माण होता है। इस तरह एक बहुत ही मितव्ययी, एक बहुत ही विवेकसंगत प्रक्रिया का आरेख मिलता है। सचमुच, सूत्रकण से कोशिका-द्रव में पूरा अणु ढोने की क्या जरूरत है, जब उसके सिर्फ एक खंड – फोस्फेट-ग्रुप – को लाकर आवश्यक अणु का वहीं निर्माण किया जा सकता है, जहां वह काम आयेगा? इस आरेख से एक ऐसे रसायनिक व्युत्क्रम प्रभाव का अंदाज लगता है, जो कोशिकीय तंत्रों में नार्विक तथा हर्मोनिक आज्ञाओं के शीघ्रातिशीघ्र पालन में सहायक होता है (आज्ञा-वहन की प्रक्रिया हर पेशीय कोशिका में पोटाशियम-आयनों के वितरण से समाप्तहोती है), क्योंकि हृदय-संकोचन की शक्ति और आवृत्ति शरीर की वास्तविक आवश्यकताओं के अधीन होती हैं।

अब छोटा-सा काम रह गया था : सिद्धांत को प्रयोग द्वारा प्रमाणित करना। निर्णायक परिणाम देने वाले प्रयोग की रूपरेखा पर दुनिया के बड़े-बड़े जीवरसायनविद विचार कर रहे थे, इसलिये असफलता अप्रत्याशित थी। सूत्रकण से निकाला गया खमीर ATP से क्रेयाटीन फोस्फेट का संश्लेषण नहीं कर रहा था। वह सिर्फ ATP बनाता था और यह निरर्थक लग रहा था।

यही वह मंजिल है, जहां से हमारे हृदलोचनी केंद्र की नयी

प्रयोगशाला में रसायनविदों, जीवरसायनविदों और शरीरलोचकों ने अपनी यात्रा आरंभ की। इस नयी समस्या पर खोज-कार्य का नेतृत्त्व स्मिर्नोव और रसायनविद साक्स के हाथों सौंपा गया। शुरूआत उन्हीं प्रयोगों की पुनरावृत्ति से करनी पड़ी, जिनसे अन्य प्रयोगशालाओं में उनके कलीग हार खा चुके थे। इन प्रयोगों को ध्यान से दुहराना था कि कहीं कोई और कड़ी मिल जाये। परिणाम वे ही मिले, लेकिन साक्स कुछ समय बाद इस बात का कारण ढूंढ़ने लगे कि फ्लास्क में (प्रयोग में) और कोशिका में (सूत्रलव में) अलग-अलग प्रतिक्रिया क्यों चलती है। दोनों प्रतिक्रियाओं में अंतर का कारण माध्यम की अम्लता बता रहे थे। लेकिन साक्स के मन में यह विचार आया कि सूत्रलव में प्रतिक्रिया की अपनी खास गतिकी होती है। यदि मोटा-मोटी कहें, तो कारण यह है कि सजीव कोशिका शीशे का फ्लास्क नहीं है। फ्लास्क में प्रतिक्रिया बस इसी पर निर्भर करती है कि प्रयोगकर्त्ता ने उसमें कौनसा द्रव्य किस मात्रा में ढाला है। उसके हर बिन्दु पर बिल्कुल समान प्रतिक्रिया होगी। पर कोशिका में द्रव्य समरूपता से वितरित नहीं रहते। कोशिका में वे नियत संरचना और निधियां बनाते हैं। और खमीर का अणु पूरी कोशिका में द्रव्यों की सांद्रता 'अनुभव' नहीं करता, वह सिर्फ अपने सक्रियता-केंद्र में उनका अनुपात अनुभव करता है।

इसके बाद हमारे सहकर्मियों ने ये आँकड़े प्राप्त किये कि क्रेयाटीन फोस्फेट संश्लिष्ट करने वाला खमीर सूत्रलव की झिल्ली पर एक अन्य खमीर के साथ मिलकर काम करता है, जिसका काम है – संश्लिष्ट ATP को उसके निर्माण-स्थल से सूत्रकण की झिल्ली पार कराना और, जब ATP में से फोस्फेट-ग्रुप अलग हो जाता है, ATP को निर्माणस्थल पर वापस

लाना, ताकि उसका फोस्फोरीलीकरण करके फिर से ATP बनाया जा सके। यह वाहक खमीर ATP को सीधे क्रेयाटीनफोस्फोकीनेज-अणु के सक्रियता-केंद्र पर पहुँचाता है, जहां संश्लेषण का काम होता है। चूँकि उनके सक्रियता-केंद्र ATP से हमेशा ही सांद्रित रहते हैं, इसलिये यही खमीर क्रेयाटीन फोस्फेट भी बनाता है।

ललित विज्ञान के अमरीकी लेखक पोल डे क्राइफ अपनी उत्कृष्ट पुस्तक "सूक्ष्म जीवरूपों के शिकारी" में एक अन्वीक्षक के बारे में लिखा है, जो अन्य लोगों से हमेशा एक प्रयोग अधिक किया करते थे। कहा जा सकता है कि हमारे जीवरसायनविदों ने भी एक अतिरिक्त प्रयोग किया। पर यह प्रयोग सिर्फ परखनलियों की सहायता से नहीं किया गया था। मुख्य प्रयोग वैचारिक था: उपरोक्त दो खमीरों के गणितीय प्रतिरूप का विश्लेषण किया गया जिसके सहारे परिकल्पना सिद्ध हो पायी। (उल्लेखनीय है कि इस काम में पेंसिलवानिया विश्वविद्यालय के गणितज्ञ रिचार्ड वियाले ने भी हाथ बटाया था।)

जल्द ही दूसरी 'निधि'—सूत्रलव—में भी इन्हीं के सदृश दो खमीरों का संकुल प्राप्त हुआ। एक, जो फोस्फेट वहन करने और क्रेयाटीन फोस्फेट से ATP बनाने की क्षमता रखता है, और दूसरा खुद प्रोटीन मीयोजीन, जो ATP की ऊर्जा उन्मुक्त करता है। लेकिन यहां काम का वितरण कुछ दूसरी तरह से है: क्रेयाटीन से ATP बनाने वाला खमीर ATP को तुरंत मीयोजीन के सक्रियता-केंद्र पर भेज देता है, ताकि 'और्जिक मुद्रा' संकोचन-क्रिया में जल्द से जल्द खर्च हो जाये।

यहीं पर हमारे जीवरसायनविदों के मन में यह विचार उत्पन्न हुआ कि सूत्रकणों से पेशीतंतिकाओं तक ऊर्जा का प्रदाय किसी

रसायनिक संकेत द्वारा नियंत्रित होता है। और यह, कि इस रसायनिक संकेत का काम क्रेयाटीन करता है। यह वही नाइट्रोजनी द्रव्य है, जो क्रेयाटीन फोस्फेट से फोस्फेट ग्रुप के अलग होने पर बनता है। लोग इसे डेढ़ सौ वर्षों से जानते थे और इसे अपशिष्ट द्रव्य मानते थे। लेकिन शरीर में क्रेयाटीन की मात्रा कम नहीं होती, इसलिये उसकी भूमिका निश्चय ही गंभीर होनी चाहिये।

जल्द ही दुनिया की अन्य प्रयोगशालाओं में भी इस तरह के तथ्य प्राप्त होने लगे कि क्रेयाटीन फोस्फेट ही ऊर्जा वहन करता है। हृदलोचनी केंद्र के अन्य सहकर्मियों ने भी ऐसे तथ्य प्राप्त किये। पता चला कि क्रेयाटीन फोस्फेट पेशीय कोशिकाओं के सूत्रलवों से सिर्फ संकोची तंत्रों तक ही नहीं, कैल्सियम, सोडियम, पोटाशियम या मैग्नेशियम के आयनों को झिल्ली पार कराने वाले 'आयनी पंपों' तक भी ऊर्जा पहुँचाता है (कोशिका की जिंदगी के लिये ये आयन बहुत महत्त्वपूर्ण हैं)। हृत्पेशी-तंतुओं की वाह्य और आंतर झिल्लियों में भी ऐसे ही खमीर-संकुल पाये गये। जो प्रतिक्रिया फ्लास्क में उत्पन्न नहीं की जा सकती, वह कोशिका में इन्हीं खमीर-संकुलों की कृपा से यथोचित रूप में चला करती है, इन्हीं की सहायता से हर आयनी पंप के पास आये हुए क्रेयाटीन-फोस्फेट से उनके समीप ATP की अपनी निधि बनती है (जो उसी समय आवश्यक कामों में खर्च होने लगती है)।

यह सब खुद समझना और दूसरों को समझाना तभी संभव हुआ, जब हमारे जीवरसायनविद लेवीत्स्की ने अपने सहकर्मियों के साथ मिलकर खमीर 'कैल्सियम-मैग्नेशियम-आडेनोजीनत्रिफोस्फेटेज' को इतने शुद्ध और सक्रिय रूप में अलग किया, जितना

अब तक कोई भी नहीं कर सका था। इसकी विधि काफी मुश्किल से विकसित की गयी थी।

विदेशी प्रयोगशालाओं में अबतक सिद्ध किया जा चुका था कि मस्तिष्क की कोशिकाओं में भी ऊर्जा इसी विधि से (क्रेयाटीन फोस्फेट के सहारे) वहन होती है। तब से क्रेयाटीन जैसे साधारण द्रव्य का महत्त्व बहुत बढ़ गया। अंदाज था कि ऊर्जा के मुख्य 'वाहन' का संश्लेषण और उसकी मात्रा क्रेयाटीन पर ही निर्भर करती है, लेकिन इस अंदाज को तथ्य में परिणत करने की आवश्यकता थी। अमरीकी वैज्ञानिक कृत्रिम परिस्थितियों में जीवित रखी गयी पेशीय कोशिकाओं पर प्रयोग द्वारा सही उत्तर ढूँढ़ रहे थे, पर यह प्रयोग-वस्तु कारगर नहीं रही, क्योंकि प्रमाण ऐसे होने चाहिये थे, जिसे शरीर में दिखाया जा सके, न कि परख-नली में पनपती कोशिकाओं में।

ऊतक में बाहर से दिये गये क्रेयाटीन का क्या प्रभाव होता है, इसके बारे में परिशुद्ध मात्रात्मक आँकड़ों की आवश्यकता थी। और इस प्रभाव को भी 'शुद्ध' रूप में होना चाहिये था, अर्थात् इसे किसी भी नार्विक या हर्मोनिक प्रभावों से मुक्त रहना था। इसलिये प्रयोग पेशीय कोशिकाओं पर नहीं, पेशीय ऊतकों पर करना था।

इस तरह का प्रतिमान हमारे जीवरसायनविदों ने हृदलोचनी केंद्र की शरीरलोचनी प्रयोगशाला में प्राप्त किया, जिसके अध्यक्ष प्रो० रोजेंश्त्राउख हैं। वहां मेढ़क के हृदय-ऊतक की नन्हीं पट्टियों पर विद्युशरीरलोचनी प्रयोग चल रहे थे। (विज्ञान के लिये मेढ़कों ने अपना इतना बलिदान किया है कि पेरिस और टोकियों में उनके स्मारक स्थापित किये जा चुके हैं ; इसी तरह लेनिन-ग्राद में पाव्लोव के उस कुत्ते का स्मारक है, जिसपर परिस्थितिज

प्रतिवर्तों के प्रयोग किये गये थे।) यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण था कि मेढ़कीय हृत्पेशी की विद्युशरीरलोचनी विशेषताएं किसी भी अन्य जंतु की अपेक्षा मानव हृत्पेशी की विशेषताओं के सबसे निकट हैं। साथ ही, मेढ़क की हृत्पेशी में कोशिकाओं की झिल्लि-यों को विभिन्न रसायनिक द्रव्य अधिक सुगमता से पार कर जाते हैं, बनिस्बत कि स्तनपायी जंतुओं की हृत्पेशी में। अतः इस वस्तु पर क्रेयाटीन के साथ एक सुंदर प्रयोग किया जा सका।

...पेशी की छोटी-छोटी पट्टियों को, जिनका भार 14 मिलिग्राम से अधिक नहीं था, 1 मिलिलीटर आयतन वाले कक्ष में रखा गया। इसके बाद पट्टियों को उत्प्रेरक के विद्युद (एलेक्ट्रोड) और दातृक के साथ संलग्न करते हैं (दातृक संकोचन-बल अभिलेखित करता है)। ऊतक को कभी शरीरलो-चनी घोल में रखा जाता है, ताकि उसमें से प्राकृतिक क्रेयाटीन घुल जाये (देर तक काम कराके उसे थका दिया जाता था)। कभी उसे क्रेयाटीन की भिन्न सांद्रता वाले घोलों में डुबाया जाता था – ऊतक में उसकी सांद्रता दो गुनी, पाँच गुनी, दस गुनी अधिक हो जाती थी; इसके बाद अतिरिक्त क्रेयाटीन फिर से धो दिया जाता था। प्रयोग के हर चरण पर संकोचन बल के साथ-साथ ऊतक में ATP क्रेयाटीन और क्रेयाटीन फोस्फेट की मात्रा निर्धारित की जाती थी।

इन प्रयोगों ने, प्रथमतः, कोशिकाओं में क्रेयाटीन फोस्फेट का अस्तित्व एकमात्र ऊर्जा-वाहक के रूप में सिद्ध किया। दूसरे, प्रयोगों ने इस परिकल्पना को भी सिद्ध किया कि क्रेयाटीन में हृत्पेशी का कार्य नियंत्रित करने की क्षमता है। वह उसे उत्प्रे-रित ही नहीं करता, नियत परिस्थितियों में उसके संकोचन को क्षीण भी करता है।

इन परिणामों को किसी अज्ञात नियमसंगति की खोज माना गया। इसमें मुख्य रूप से भाग लेने वाले रसायनविदों, जीवरसायन-विदों, शरीरलोचकों को सोवियत संघ के राज्य-पुरस्कार से सम्मानित किया गया। मुझे इस बात का गर्व है कि हमारे हृदलोचनी केंद्र की उम्र इतनी कम है, पर इसके अन्वीक्षणों का इतना ऊँचा मूल्यांकन किया गया है। इसके अतिरिक्त, इन नियमसंगतियों का ज्ञान उन रोगलोचनी प्रक्रियाओं पर प्रभाव डालने का रास्ता दिखाता है, जो हृत्पेशी-कोशिकाओं में ऊर्जा-वहन की गड़बड़ी पर निर्भर करते हैं। जिन लोगों के हृदय में कभी-कभी दर्द शुरू हो जाता है, उनके लिये यह सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण होगा।

कोशिका की पुरानी अवधारणा – 'द्रव से भरी बोरी' – का अंत हो गया। नयी अवधारणा के अनुसार वह एक जटिल कारखाना है, जहां हर अणु की गति सुव्यवस्थित है, कोशिकीय संरचनाओं की आवश्यकता के अनुरूप है। इस अवधारणा की सहायता से आज का सैद्धांतिक हृदलोचन उस घटना-क्रम को अधिक गहराई से समझने लगा है, जिसका परिणाम है – खीर-कठोरन का रोग। और यह रोग हमारे पेशे की सबसे कठिन समस्या है। बात यह है कि सभी हृत्कुंभिक रोग परस्पर संबंधित होते हैं, इनमें से कोई भी रोग बाकी को भी विकसित करने लगता है। यदि एक स्थिति में कोई रोग किसी दूसरे रोग का कारण है, तो दूसरी स्थिति में वह दूसरे रोग का परिणाम भी हो सकता है। कभी-कभी खीरकठोरन की संवृत्तियां भी स्वतंत्र रूप से शुरू हुए अतितान और हृदय में रक्तागमनरोध की विकास-दिशा निर्धारित करने लगती हैं।

...तल्पक बहुत पहले से जानते थे कि जिन रोगियों को

खीरकठोरन होता है, वे अक्सर बहुत बढ़िया खाना खाते थे, स्वादिष्ट भी और पोषक भी, जिनमें अक्सर खोलेस्टेरीन की मात्रा बहुत अधिक रहती है। रोग के कारण धमनियों की दीवारों में जो परिवर्तन होते हैं, उनका पूर्ण अध्ययन हमारी शती के आरंभ में ही पर्याप्त रूप से हो चुका था। 1910-1912 में रूसी रोगलोचक निकोलाई आनिछ्कोव और सेर्गेई खालातोव खरगोशों की कुंभियों में खीरकठोरन सदृश क्षति उत्पन्न करने में सफल हुए – बहुत ही सरल विधि से: वे खरगोशों को अंडा खिलाया करते थे (जो लगभग सारा का सारा वसा और खोलेस्टेरीन ही है)। जीवरसायनिक अन्वीक्षणों ने दिखाया कि रोगी व्यक्तियों और प्रयोगाधीन जंतुओं के रक्त में भी खोलेस्टेरीन की मात्रा बहुत अधिक होती है। खोलेस्टेरीन की मात्रा निर्धारित करने की विधि बहुत पहले ज्ञात हो चुकी थी, वह प्रथम जैव पदार्थों में से एक था, जिसका रसायनविदों ने 19 शती के आरंभ में विश्लेषण किया था। लेकिन शरीर में उसका कार्य ज्ञात नहीं था। इतना ज्ञात था कि वह पित्त और पित्त की पथरी में उपस्थित रहता है (ग्रीक शब्द खोलेस्टेरीन का अर्थ है 'ठोस पित्त')।

आनिछ्कोव ने खीरकठोरन के विकास का एक सुडौल आरेख प्रस्तुत किया: भोजन में हमेशा अतिरिक्त खोलेस्टेरीन – रक्त में स्थायी तौर पर अतिरिक्त खोलेस्टेरीन – खोलेस्टेरीन-विनिमय में गड़बड़ी – शुद्ध भौतिकीय व रसायनिक प्रक्रियाओं के फलस्वरूप कुंभियों की भीतरी झिल्ली पर अतिरिक्त खोलेस्टेरीन का अवसादन। उन्होंने नार्विक व हर्मोनिक गड़बड़ियों के प्रभाव को भी ध्यान में रखा था। पर जैसा कि विज्ञान में अक्सर होता है, मान्यताएं तर्क पर आधारित की जाती हैं, जो कालांतर में खुद डगमगाने लगते हैं। कुछ मान्यताएं – जैसे यह, कि खोलेस्टेरीन

कुंभियों की भीतरी झिल्लियों पर जमने लगता है – एक विशेष समय की वैज्ञानिक अवधारणाओं को प्रतिबिंबित करती हैं, जिनकी जगह कुछेक दशाब्दियों बाद दूसरी अवधारणाएं जन्म लेती हैं।

पता चला कि कुंभियों में उस खोलेस्टेरीन के कण कभी भी जमा नहीं होते, जिन्हें आदमी भोजन के रूप में ग्रहण करता है। इसके अणु तो अन्य भोज्य द्रव्यों की तरह ही अलग-अलग 'ईंटों' में टूट जाते हैं और इन 'ईंटों' से फिर कुछ भी बन सकता है। जो खोलेस्टेरीन रक्त से अलग होता है और जो कोशिकाओं में तथा खीरकठोरन वाले स्थलों पर जमा होता है, वह हमारे शरीर द्वारा संश्लिष्ट होता है। खोलेस्टेरीन हमारे शरीर में निरंतर बनता रहता है, वह जीवन के लिये बहुत ही महत्त्वपूर्ण पदार्थ है। पित्त में वह शरीर द्वारा सिर्फ विलगित होता है। उसकी द्वितीयक भूमिका ही लें: अधिवृक्क और प्रजनन-ग्रंथियों की कोशिका से स्टेरोइड (ठोसवत) हर्मोन बनने के पहले खोलेस्टेरीन ही विलगित होता है। उसकी मुख्य भूमिका यह है कि वह कोशिका-झिल्लियों की निर्माण-सामग्री है। इसीलिये हमारे शरीर में उसकी मात्रा इतनी अधिक है; अंडो में भी इतनी अधिक होती है, क्योंकि उससे जीता-जागता जीव विकसित होता है। कोशिका की सभी निर्माण-प्रक्रियाएं झिल्लियों पर चलती हैं, जो किसी प्रोटीन का अणु बनाते वक्त उत्पन्न होती हैं और आवश्यक अणु के बनते ही नष्ट हो जाती हैं; नयी झिल्लियाँ फिर नयी सामग्रियों से बनती हैं। इसीलिये खोलेस्टेरीन-विनिमय इतनी तेजी से चलता रहता है।

इसीलिये दीवार से होकर उसके विसरण का सवाल नहीं पैदा होता, वह स्कूली प्रयोग में कोलाइडी झिल्ली से गुजरने

वाला लवण नहीं है। सातवें दशक तक वह जीवरसायनविदों को इसलिये घनचक्कर में डालता रहा है कि उसे किसी भी द्रव्य से अलग करना या द्रव्य में उसकी मात्रा निर्धारित करना बहुत सरल था। लेकिन जब आधुनिक पराअपकेंद्रकों और को-शिका के अंगों को अलग करने की आधुनिक विधियों का निर्माण हुआ, तो अन्वीक्षकों की समझ में आया कि जीवरसायनिक प्रक्रिया में भाग लेने वाले लगभग सभी द्रव्य ऐसे होते हैं, जिन्हें कोशिका बने-बनाये रूप में नहीं प्राप्त करती; वे अध्याण्विक संकुलों में निहित होते हैं, कोशिका के संरचनात्मक तत्त्वों के साथ संयुक्त अवस्था में रहते हैं। खोलेस्टेरीन भी उन प्रोटीनों के संकुल में उपस्थित रहता है, जो कोशिकीय झिल्लियों का रूप धारण करते हैं। इसके बाद वह दूसरे प्रोटीनों के साथ संकुल बनाता है और उन्हीं के साथ कोशिका से बाहर निकल जाता है। खोलेस्टेरीन का जमा होना रक्त में उसकी मात्रा पर इतना निर्भर नहीं करता, जितना जमा करने वाले 'संचा-यक प्रोटीनों' और कोशिका से 'बाहर निकालने वाले' 'नि-कासी प्रोटीनों' के अनुपात पर निर्भर करता है। शरीर में 'नि-कासी' प्रोटीन संश्लिष्ट करने की क्षमता कई घटकों पर निर्भर करती है। एक महत्त्वपूर्ण घटक है – आदमी की पेशीय सक्रियता से संबंधित जीवरसायनिक प्रक्रियाएं! ज्यादा विस्तार में नहीं जायेंगे, यहां सिर्फ निष्कर्ष बता देते हैं: पेशीय सक्रियता कम होने पर कोशिका से खोलेस्टेरीन निकालने वाले प्रोटीनों का संश्लेषण घट जाता है। पेशीय सक्रियता जितनी अधिक होगी, 'निकासी प्रोटीनों' का संश्लेषण भी उतना ही अधिक होगा। इसीलिये कहना पड़ता है कि दौड़-धूप या शारीरिक श्रम करने वाले लोग खीरकठोरन के खतरे से बचे रहते हैं। इसीलिये तो
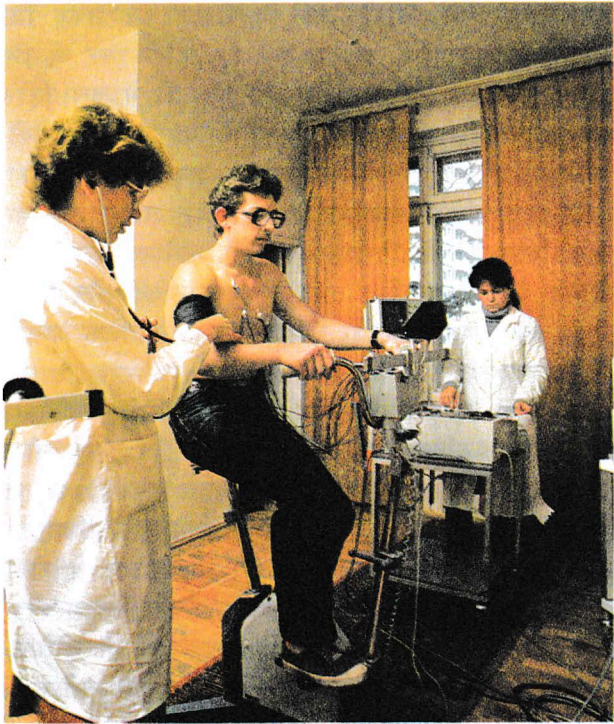
शारीरिक अभ्यास कक्षा

पोल व्हाइट 80 वर्ष की उम्र में भी 15 किलोमीटर दूर हवाई अड्डे पर सायकिल से ही आये, यद्यपि वे कार भी चला सकते थे। पाँचवीं मंजिल तक वे पैदल सीढ़ियों से ही चढ़ना पसंद करते थे!

इस तरह के प्रेक्षण निश्चय ही व्यावहारिक हैं, रोग-निरोध के लिये बहुत ही उपयोगी हैं, पर हम डाक्टरों को तो ऐसे

प्रसाधन चाहियें, जो खीरकठोरन का इलाज कर सकें, जिससे रोगी ग्रस्त हो चुका है।

इस समस्या के हल की खोज कई दिशाओं में चल रही है। विभिन्न जलवायवी परिस्थितियों में रहने वाले स्वस्थ लोगों में लीपोप्रोटेइड-विनिमय के जीवरसायन का अन्वीक्षण हो रहा है। हम परंपरागत आहार, श्रम के प्रकार और आनुवांशिक घटकों पर इस विनिमय की निर्भरता का भी अध्ययन कर रहे हैं। हृदलोचनी केंद्र के तल्पविद तथा जीवरसायनविद और साथ ही अमरीकी तथा पश्चिमी जर्मनी के वैज्ञानिक आनुवांशिक अन्वीक्षणों से कई महत्त्वपूर्ण परिणाम प्राप्त कर चुके हैं।

एक ऐसा आनुवांशिक रोग भी है, जिसे 'पारिवारिक अतिखोलेस्टेरीन जनित अल्परक्तता' कहते हैं। यह सौभाग्य की ही बात है कि इस रोग का प्रसार बहुत कम है। इसे खीर-कठोरन को बहुत स्पष्टता से दिखाने के लिये एक प्रतिमान कह सकते हैं, जिसे प्रकृति ने खुद रचा है। खीरकठोरन से रोगी में जितने भी परिवर्तन होते हैं, वे अतिखोलेस्टेरीन जनित अल्परक्तता में बहुत स्पष्ट रूप से उभर आते हैं। जैसे, रक्त में खोलेस्टेरीन जमा करने वाला द्रव्य सामान्य स्तर से 2–4 गुना अधिक होता है, जिसके परिणाम बहुत तेजी से विकसित होने लगते हैं – रोगी को बाईस वर्ष की उम्र से ही इन्फार्क्त और इनसुल्त का खतरा होने लगता है! इसीलिये कोई ऐसी मौलिक विधि ढूँढ़नी थी, जो रोगी की मृत्यु से रक्षा कर सकती। लंबी खोजों के बाद ऐसी एक विधि विकसित की गयी। जीवरसायनविदों ने प्रयोगा-धीन जंतुओं के रक्त से लीपोप्रोटेइड – खोलेस्टेरीन-संग्राहक – के लिये प्रतिकाय अलग करना सीखा। इस प्रतिकाय को एक विशेष उपकरण – पृथक्कारी – में डालते हैं, जो रोगी की रक्तवाही

कुंभियों के साथ जोड़ दिया जाता है। उपकरण एक तरह से आदमी के रक्त-संचार का एक तीसरा – वाह्य – चक्र पूरा करने लगता है। जब रोगी का रक्त इस वाह्य चक्र में प्रवाहित होता है, तो उपकरण में उपस्थित प्रतिकाय रक्त के प्लाज्मा से अतिरिक्त लिपोप्रोटेइड अलग करने लगता है, जबतक कि इन प्रोटीनों की मात्रा सामान्य स्तर तक कम नहीं हो जाती। इस तरह का जीवरसायनिक आपरेशन कुछ रोगियों के साथ दो बार, तीन बार तक किया जा चुका है (इसके अतिरिक्त रोगी को अन्य नये प्रसाधन भी दिये गये, जो आपरेशन को और भी प्रभावशाली बना देते हैं)। हर आपरेशन के बाद 'अवांछनीय' प्रोटीनों की मात्रा में वृद्धि का दर कम हो जाता था।

आप देख रहे हैं कि यह विधि कल्पनातीत है, इसे सचमुच ही आधुनिक आयुर का जादू कहा जा सकता है। लेकिन सामान्य खीरकठोरन की चिकित्सा के लिये इसे और भी सुविकसित करना होगा। खीरकठोरन में जीवरसायनिक परिवर्तन बहुत सूक्ष्म होते हैं। बात यह नहीं है कि इसमें 'संग्राहक' प्रोटीन बहुत अधिक मात्रा में उत्पन्न होते हैं, बल्कि यह कि उच्च घनत्व वाले लिपोप्रोटेइड की कमी रह जाती है, जो कोशिकाओं से अतिरिक्त खोलेस्टेरीन अलग करता है। कभी-कभी इसकी मात्रा पर्याप्त प्रतीत होती है, पर उनकी संरचना में अतिसूक्ष्म परिवर्तन के कारण वे अपना काम नहीं कर पाते।

यहां मुझे अपनी कहानी का सिलसिला तोड़ना पड़ रहा है। सिर्फ इतना और बता दूँ कि हमारे जंतिकीविदों और आण्विक जीव-लोचकों के बीच एक नये 'जीवरसायनिक आपरेशन' का विचार उत्पन्न हुआ है, जो 'सामान्य' खीरकठोरन की चिकित्सा करेगा। कब तक इस विचार का कार्यान्वयन हो सकेगा, यह कहना

कठिन है। आगे कुछ बताने के पहले नये परिणामों का इंतजार करना होगा।

विज्ञान में अनुत्तरित प्रश्नों की संख्या हमेशा ही अधिक होती है, बनिस्बत कि उत्तरित प्रश्नों की। तभी तो विज्ञान आगे बढ़ता रहता है।

अब मैं अपने विज्ञान की बात छोड़कर उन घटनाओं पर आना चाहूँगा, जो मेरे पेशे के सैकड़ों-हजारों लोगों को चिंता में डाल रही हैं, कुछ करने को विवश कर रही हैं। ये घटनाएं हम डाक्टरों को ही नहीं, दुनिया के सभी लोगों को आक्रांत कर रही हैं।

सत्य का सामना

दिसंबर, 1980 में प्रोफेसर बेर्नार्ड लाउन, मैं और चार अन्य वैज्ञानिक जेनेवा में मिले थे। अन्य चार में से दो रूसी वैज्ञानिक, सोवियत आयुर अकादमी के सदस्य ले० इलीन और मि० कूजिन थे और दो अमरीकी वैज्ञानिक डी० म्यूलेर और ए० चीवियान थे। हम एक ऐसी बात पर विचार करने के लिये इकट्ठे हुए थे, जो पिछली मुलाकातों में हुई बातों से कहीं अधिक गंभीर थी। मैं और लाउन एक दूसरे को कोई पंद्रह वर्षों से जानते हैं। हमारी रुचि भी एक ही विषय में है। लेकिन इस बार हम द्रुत हृदलोचन के बारे में नहीं बातें कर रहे थे, जिसका अध्ययन मैं मास्को में करता हूँ और लाउन – बोस्टन में। हृदय का निस्फ्फुरन भी हमारी बात का विषय नहीं था, जिसके विकास में लाउन ने अनेक वर्ष बिताये हैं (उन्हें इस विधि के प्रथम रचेताओं में से एक मानना चाहिये)। प्रायोगिक हृदलोचन की भी कोई चर्चा नहीं थी।

हम उस खतरे की बात कर रहे थे, जो आज हमारी दुनिया में पूरे जीव-जगत पर मंडरा रहा है। यह नाभिकीय प्रलय का खतरा है। हमारी बातचीत का विषय था कि इस खतरे को टालने के लिये डाक्टरों को क्या करना चाहिये।

हम डाक्टरों का काम ही है आदमी को रोग और मृत्यु से बचाने की चेष्टा करना! फिर हम कैसे प्रलय को रोकने की इस समस्या से अलग रह सकते हैं? यदि प्रलय शुरू हो ही जायेगा, तो आयुर की उपलब्धियां तो क्या, हर वह चीज राख हो जायेगी, जिसे आदमी ने अपनी बुद्धि और अपने हाथों से रचा है। आयुरकों ने चेचक और प्लेग का उन्मूलन कर दिया है। लेकिन पृथ्वी पर अभी जो 50 हजार नाभिकीय अस्त्र जमा हैं, उनमें 1945 में हिरोशिमा और नागासाकी पर फेंके गये परमाणु-बमों की तुलना में सैकड़ों हजार गुनी अधिक विस्फोट-शक्ति छिपी है। पृथ्वी के हर निवासी के लिये समझ लीजिये कि तीन टन बारूद जमा कर लिया गया है। इन हजारों अस्त्रों में छिपी हुई 'नाभिकीय महामारी' पृथ्वी से मानवता को, उसकी सभ्यता और संस्कृति को पूर्णतया नष्ट कर दे सकती है।

1922 में ही, जब हमारे भौतिकविद परमाणु की संरचना स्पष्ट करने में लगे हुए थे, प्रतिभाशाली सोवियत वैज्ञानिक व्लादीमिर वेर्नाद्स्की ने चेतावनी दे दी थी: "मानव-जीवन में एक नया मोड़ आने वाला है। अब वह दिन दूर नहीं है, जब परमाणु की ऊर्जा आदमी की मुट्ठी में होगी; यह ऐसी विशाल शक्ति का स्रोत होगा, जो आदमी के समक्ष मनचाहे ढंग से जीने की संभावनाएं प्रस्तुत कर सकेगा।

क्या आदमी अपने विनाश के लिये नहीं, बल्कि अपनी भलाई के लिये इस शक्ति का उपयोग कर सकेगा? क्या वह

इतना समझदार हो गया है कि विज्ञान-प्रदत्त इस शक्ति का उपयोग अपने हित में कर सके?"

यह एक दूरदर्शी की चिंता थी, और उसकी चिंता सही निकली। सन् 1945 में नाभिकीय अस्त्र अमरीका में बनते ही राजनीतिज्ञों के हाथ में चले गये। युद्ध समाप्त होने के चार सप्ताह पूर्व संयुक्त राज्य अमरीका के राष्ट्रपति हैरी ट्रूमैन के हुक्म पर युरेनियम और प्लुटोनियम के बम तीन दिन के अंतराल पर दो जपानी शहरों के शांतिपूर्ण, निहत्थे निवासियों पर फेंक दिये गये। औसत अमरीकी को यह विश्वास दिलाने का प्रयत्न किया जा रहा था कि इसके बिना विजय संभव नहीं थी।

लेकिन असलियत यह था कि सैन्यवादी जापान की हार पहले से निश्चित हो चुकी थी और इन शहरों को ध्वस्त करना सामरिक दृष्टि से निरर्थक था।

बम फेंकने के क्या परिणाम होंगे – यह कोई भी ठीक-ठीक नहीं जानता था। विस्फोट के प्रथम क्षण से लेकर अगले 24 घंटों के दरमियान हिरोशिमा में 45 हजार लोग और नागासाकी में 22 हजार लोग भयानक पीड़ा, जलन और ऐंठन का सामना करते हुए मृत हो गये। चार महीनों के अंदर घाव, जलन और विकिरण जनित क्षति से मरने वालों की संख्या दुगुनी हो गयी। अन्य एक लाख लोगों को लंबे समय तक विकिरण-रोग और श्वेत-रक्तता से तड़प-तड़प कर मरना नसीब था। दो लाख जानें – यह था एक वहशी प्रयोग का परिणाम, जो लोगों पर सिर्फ इसलिये किया गया था कि दुनिया को एक नये अस्त्र का करीश्मा दिखाया जाये, दुनिया को डरा दिया जाये कि एकमात्र अमरीका के पास इतना भयानक हथियार है, दुनिया को जता दिया जाये कि उसे अमरीका की मर्जी पर चलना होगा।

राष्ट्रपति ट्रूमैन ने तब बड़े अहंकार के साथ रेडियो पर घोषणा की थी : "...मानव-इतिहास के सबसे बड़े वैज्ञानिक खेल में हमने 2 अरब डालर दाव पर लगाया था और हम जीत गये"।

उनका यह भाषण सुनकर अलबर्ट आइसटाइन चीख पड़े थे : "कैसी दुर्दशा है!" उन्हीं दिनों उन्होंने लिखा : "दुनिया पर संकट आने वाला है, जिसका पूरा-पूरा अर्थ वे लोग नहीं समझ सके, जिन्हें कल्याण और अभिशाप के बीच किसी एक को चुनने का अधिकार था... और हम निहत्थे लोग एक नये विनाश की ओर बढ़े जा रहे हैं!"

तब से चालीस वर्ष बीत चुके हैं। परमाणुक अस्त्र पर अमरीकियों का एकाधिकार चार वर्षों से कम ही रहा। पर अमरीकी राजनीतिज्ञ और सेनाधिकारी यही आशा करते रहे कि नये प्रकार के हथियार उन्हें बाकी देशों से अधिक शक्तिशाली बना देगा। परमाणु-बम के बाद उन्होंने तापनाभिकीय बम बनाया, न्यूट्रोन बम बनाया, नये-नये राकेट बनाये। राकेटों की बनावटें भी आधुनिकतम हैं – किसी राकेट में लगा हुआ नाभिकीय अस्त्र उससे अलग हो सकता है, कोई परदार राकेट है, जो सरलता-पूर्वक अपनी दिशा बदल सकता है। ये सभी यूरोप के बीचों-बीच लगे हैं। अब इन्हें अंतरिक्ष में ले जाया जा रहा है। ले जाने वाले हैं – नाटो, संयुक्त राज्य अमरीका (उत्तर अतलांतिक संधि-संगठन के सदस्य-देश)। वे आशा कर रहे हैं कि इससे वे सोवियत संघ और अन्य समाजवादी देशों के संगठन से अधिक शक्तिशाली हो जायेंगे, सोवियत संघ और उसके मित्र-देशों के सामने दो ही रास्ता रह जायेगा – या तो वे उनकी हुकूमत में रहेंगे या नष्ट हो जायेंगे।

अस्त्र-होड़ के कारण संयुक्त राज्य अमरीका के शासक-वर्ग ने सैन्यशक्ति पर व्यय बढ़ाकर 7% प्रति वर्ष कर दिया है ; 1985 में इस मद पर 3 खरब डालर खर्च हुए हैं।

गैरजिम्मेदार राजनीतिज्ञ इसी विचार से अपना मन हल्का कर ले रहे हैं कि नाभिकीय युद्ध इतना भयंकर नहीं होगा ; वह सिर्फ अधिक विनाशकारी होगा। वे सोचते हैं कि युद्ध के समय नाभिकीय बम से कहीं छिपकर बैठा जा सकता है। वे दावा करते हैं कि नाभिकीय युद्ध को किसी एक भूभाग पर नियंत्रणीय रूप से सीमित रखा जा सकता है और इसमें जीता जा सकता है। इसी भ्रम ने उन्हें निरंकुश बना दिया है। राज्य सचिव ए० हेग ने अपने समय में यह घोषणा की थी कि शांति की सुरक्षा से अधिक महत्त्वपूर्ण बातें भी हैं। एक अन्य उच्च सरकारी अधिकारी पी० पाइप्स ने सब को सुनाकर कहा कि नाभिकीय युद्ध अवश्यंभावी है, अतः इसके लिये तैयारी करनी चाहिये। खुद राष्ट्रपति ने माइक्रोफोन के सामने भाषण का रिहर्सल करते हुए 'मजाक-मजाक में' सूचना दी कि उन्होंने सोवियत संघ पर नाभिकीय बमबारी की आज्ञा दे दी है। बाद में वे तरह-तरह के बहाने लगाकर अपने कथन से छुट्टी पाने का प्रयत्न करते रहे थे, लेकिन इस 'मजाक' ने करोड़ों लोगों को आतंक में डाल दिया था।

...तीस वर्ष पहले बेर्ट्रान रासेल, अल्बेर्ट आइंस्टाइन, फ्रेडरीक जोलियो-क्यूरी तथा अन्य विख्यात वैज्ञानिकों ने शक्तिशाली राष्ट्रों की सरकारों तथा अन्य वैज्ञानिक कलीगों से प्रार्थना की थी कि वे इस खतरे का पूरा-पूरा मूल्यांकन करें, जो मानव-जाति को नष्ट करने वाले हथियारों के बनने से उत्पन्न हुआ है। उन्होंने मानवता को आत्महत्या से बचाने का प्रयत्न किया था।

"क्या सचमुच मानव-जाति इतनी बेसमझ है, प्यार करने में इतनी असमर्थ है, अपनी सुरक्षा की छोटी से छोटी आवश्यकताओं के मामले में भी इतनी अंधी है कि हमारे ग्रह से सभी जीवों का विनाश ही उसकी मूर्खता का अंतिम प्रमाण रह जायेगा?..." – यह उस समय बेट्रॉन रासेल ने लिखा था।

वैज्ञानिकों की पहल पर कनाडा के पागुओश से एक आंदोलन शुरू हुआ, जो नाभिकीय अस्त्र पर पूर्ण रोक लगाने की मांग कर रहा था। जलगत, वायुगत और अंतरिक्षगत परीक्षणों की मनाही पर मास्को में जो संधि हुई थी और इससे नाभिकीय अस्त्रों के प्रसार में जो थिरावट आयी थी, इसमें पागुओश आंदोलन की भूमिका कम नहीं रही है। पर अफसोस की बात है कि यह आंदोलन जन-जन की आत्मा तक नहीं पहुँच पाया। यही नहीं, ऐसे वैज्ञानिक भी मिल गये, जो यह दिखाने का प्रयत्न करने लगे कि खतरा कुछ ज्यादा नहीं है। कुछ वर्ष पूर्व संयुक्त राज्य अमरीका की विज्ञान-अकादमी की एक विशेष समिति ने एक प्रतिवेदन प्रकाशित की, जिसमें कहा गया कि विश्व-स्तर पर नाभिकीय युद्ध से भी ग्रह के जीवमंडल में जीवन के लिये हानिकर परिवर्तन नहीं आयेंगे।

इस प्रतिवेदन ने अनेक वैज्ञानिकों और विशेषकर डाक्टरों को आक्रोष में ला दिया था। संयुक्त राज्य अमरीका की विज्ञान-अकादमी को घोषणा करनी पड़ी कि प्रतिवेदन को सही अर्थ में नहीं समझा गया है – अकादमी नाभिकीय युद्ध के विरुद्ध है। लेकिन स्वस्थ चिंतन के वैज्ञानिकों और डाक्टरों ने समझ लिया कि उन्हें अधिक सक्रिय कदम उठाने चाहिये। और दुनिया के सभी लोगों को यह दिखाने के लिये कि यदि नाभिकीय युद्ध हुआ, तो पृथ्वी पर मनुष्य और अन्य जीवों पर क्या गुजरेगा,

उन्होंने विशेष अन्वीक्षण शुरू कर दिये और आधुनिक नाभिकीय अस्त्रों के विस्फोट का क्या असर होगा, इसकी वैज्ञानिक भविष्यवाणी की: कितने लोग इसके शिकार होंगे, किस पैमाने पर नगरों की बरबादी होगी, परिवेश – हवा, पानी और जमीन – कितना दूषित होगा, नाभिकीय आक्रमण से बचे लोगों तथा जीवों पर दूर भविष्य में क्या और कैसा असर होगा, आदि आदि।

इसमें अंदाजी टक्कर की कोई बात नहीं थी। प्रथम कलन से ही इतने भयानक तथ्य और आँकड़े प्राप्त हुए कि संयुक्त राज्य अमरीका के नगर कैंब्रिज के कनफरेंस में भाग लेने वाले वैज्ञानिकों ने इनपर विचार करने के बाद तुरंत ही संयुक्त राज्य अमेरीका तथा सोवियत संघ की सरकारों को इसके बारे में सूचित किया और अस्त्र-होड़ को रोकने के लिये उनसे हर संभव कोशिश करने की अपील की।

संयुक्त राज्य अमरीका में कुछ ही समय बाद पहली पुस्तक प्रकाशित हुई, जिसका नाम हमारे अमरीकी कलीगों ने 'अंतिम महामारी' रखा। बेर्नार्ड लाउन ने मुझे एक पत्र भेजा, जिसकी कुछ पंक्तियां यहां उद्धृत करता हूँ: "...पूरी संभावना है कि नाभिकीय अस्त्र का उपयोग इसी शती में होगा। तापनाभिकीय महाविनाश से न तो हमारा देश बचा रहेगा, न आपका।

...लेकिन क्या हमारी जीविका के लोगों में सामाजिक उत्तरदायित्व की भावना तभी उठती है, जब बलि चढ़ने वालों की संख्या बढ़ने लगती है? मैं सोचता हूँ कि डाक्टर लोग समाज को विशेष रूप से प्रभावित कर सकते हैं; हमारी चुप्पी हमारे नैतिक दिवालियेपन की साक्षी होगी।"

इसी के बाद जेनेवा में हमारा मिलना हुआ। हम छे वैज्ञानिकों

ने 'दुनिया के डाक्टर – नाभिकीय युद्ध के विरुद्ध' नामक अंतर्राष्ट्रीय आंदोलन शुरू करने की संभावना तथा इसके सिद्धांतों पर विचार-विमर्श किया।

हमें इस तरह सोच-समझ कर तैयारी करनी थी कि विभिन्न राष्ट्रियताओं के विभिन्न धार्मिक व राजनैतिक विचारों वाले भी सैकड़ों-हजारों डाक्टर नाभिकीय युद्ध के खतरे के विरुद्ध हमारे संघर्ष में शामिल हो जायें। बहस के लिये समस्याएं बहुत थीं, क्योंकि हमारे विश्वास अलग-अलग थे। लेकिन मुख्य बात में हम सभी एक थे।

...हम चिकित्सक हैं। हम एक जीविका के लोग हैं, हमारी एक नियति है। हमारा काम रोग और मृत्यु से लोगों की रक्षा करना है। हमारा कर्त्तव्य है – हिप्पोक्रेटस की सीख: मानवता और करुणा। हमारे रोगी अपने स्वास्थ्य और जीवन के लिये हम पर और हमारे ज्ञान पर आस्था रखते हैं। अब यदि हम शुद्ध वैज्ञानिक आँकड़ों के आधार पर नाभिकीय युद्ध की भयंकरता को किसी भी अन्य व्यक्ति की तुलना में अधिक स्पष्ट रूप से समझ रहे हैं, तो हमें लोगों से यह छिपाने का कोई अधिकार नहीं रह जाता कि उनके जीवन पर कैसा संकट मंडरा रहा है, उनके लिये कैसी भयानक पीड़ा का इंतजाम किया जा रहा है।

पृथ्वी पर तीस लाख डाक्टर हैं। वे इन वैज्ञानिक अन्वीक्षणों के परिणाम हर व्यक्ति तक पहुँचा सकते हैं। उन्हें यह करना ही होगा। उन्हें अबोधता के अंधकार में ज्ञान का दीप जलाना होगा। यदि नाभिकीय युद्ध शुरू होगा, तो महाविनाश अवश्यंभावी है – यह बात उन्हें सभी लोगों, सभी जन-जातियों और सभी सरकारों को समझना होगा। क्योंकि – जैसाकि बाद में हमारी अपील

में कहा गया था – "युद्ध की लपट लोगों के मन में शुरू होती है, लेकिन बुद्धि उसे बुझा सकती है"।

ये बातें सोवियत लोगों – डाक्टरों, मजदूरों और राजनैतिक कार्यकर्ताओं से लेकर स्कूली बच्चों तक के लिये स्पष्ट हैं। पर हमें एक विरोधी दृष्टिकोण का सामना करना पड़ा, विश्व स्वास्थ्य सुरक्षा-संगठन के कुछ प्रतिनिधियों से यह सिद्ध करने के लिये बहस भी करनी पड़ी कि बात राजनैतिक समस्याओं से नहीं, बल्कि पृथ्वी पर सभी लोगों के जीवन की रक्षा से संबंधित है। मार्च 1981 में वाशिंगटन के समीप एक शहर आर्ली में 'दुनिया के डाक्टर – नाभिकीय युद्ध के विरुद्ध' आंदोलन का पहला अधिवेशन हुआ।

अधिवेशन में पढ़े गये रपटों, प्रतिवेदनों तथा निबंधों में और प्रकाशित दस्तावेजों में दिखाया गया था कि मानवता अस्त्र-होड़ पर कितनी विशाल धनराशियां खर्च कर रही है। पूरी दुनिया में हर साल 8 खरब डालर सिर्फ हत्या के साधनों पर खर्च हो रहा है, जबकि विभिन्न देशों में कुल मिलाकर 40 करोड़ लोगों को भरपेट खाना नसीब नहीं होता। 10 करोड़ बच्चे कुपोषण और अविटामिनता के शिकार हैं, अधिकांश की मृत्यु भी हो सकती है। 80 करोड़ लोग अनपढ़ हैं। 1.5 अरब लोगों को पूर्ण आयुरी सहायता उपलब्ध नहीं होती।

द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति के बाद से गरीबी, भूख और बीमारी के विरुद्ध संघर्ष में साधनों का उपयोग करने के बजाय शस्त्रीकरण पर 75 खरब डालर खर्च किया गया। अभी जितने नाभिकीय अस्त्र जमा हैं, उनकी विस्फोट-शक्ति द्वितीय महायुद्ध में सभी देशों की सेनाओं द्वारा फेंके गये बमों की कुल विस्फोट-शक्ति से 5 हजार गुनी अधिक है। इस 75 खरब की राशि में

मे सिर्फ 3 खरब डालर खर्च करने पर दुनिया के सभी लोगों के लिये पेय जल उपलब्ध कराया जा सकता है ; सिर्फ 50 करोड़ डालर से मलेरिया का उन्मूलन किया जा सकता है, जिससे 66 देशों में करीब एक अरब आदमी पीड़ित हैं।

अधिवेशन में भाग लेने वालों का उद्देश्य अपने कलीगों और दुनिया के सभी लोगों को यह दिखाना था कि नाभिकीय युद्ध में कोई भी विजेता नहीं होगा, यह सारी मानवता की हार होगी। यह एक सत्य है, जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। इसीलिये निश्चय किया गया कि नाभिकीय युद्ध के आयुरी परिणामों की भविष्यवाणियां दुनिया के सभी लोगों तक पहुँचा दी जायें और 10 लाख आबादी वाले शहर पर एक मेगाटन शक्ति का बम गिराने के जो परिणाम हो सकते हैं, इसके अध्ययन से प्राप्त आँकड़े एक विशेष मेमोरेंडम में प्रकाशित किये जायें।

ये आँकड़े ऐसे हैं कि खून सर्द हो जाये : ऐसा बम विस्फोट करने पर 300 हजार लोग एक घंटे के अंदर ही मर जायेंगे। 400 हजार लोग विकिरण जनित क्षति, फफोलों और घातक घावों से ग्रस्त हो जायेंगे, जिनसे अविराम रक्तस्राव होता रहेगा ; ध्वंस के कारण बहुतों की हड्डियाँ टूट सकती हैं। सबसे दुखद बात यह होगी कि आयुर इन सैकड़ों-हजारों लोगों को कोई कारगर सहायता पहुँचाने में समर्थ नहीं होगा (यह याद रखें कि वास्तविक आक्रमण किसी एक शहर पर नहीं, एक साथ अनेक शहरों पर होगा, इसलिये पीड़ितों की संख्या करोड़ों में होगी)। उनकी चिकित्सा के लिये न आदमी रहेंगे, न साधन ही। यातायात, संचार, ऊर्जा-आपूर्त्ति – सब ठप्प हो जायेंगे। घरों के साथ-साथ अस्पताल भी ध्वस्त हो जायेंगे, उनमें आग लगी होगी। बैंडेज, दवाएं, वेदनाहर प्रसाधन,

रक्त-बैंक, प्रतिजीवी प्रसाधन – सभी नष्ट हो जायेंगे; उन्हें कहीं से लाया नहीं जा सकेगा। पानी और खाद्य-सामग्रियां नष्ट हो जायेंगी, या जो कुछ बचेगा, वह रश्मिसक्रिय अवसादन से विषाक्त हो जायेगा। जीवन पूरी तरह अव्यवस्थित हो जायेगा। 30% डाक्टर और नर्स मृतकों के बीच होंगे, 40% – अपंग और अयोग्य होंगे; जो बचे होंगे, उनके लिये विनाश-लीला के क्षेत्र में आना विकिरण के कारण घातक होगा।

"आयुरी सहायता से वंचित जिंदा बचे लोग मृतकों से द्वेष करेंगे" – मेमोरेंडम के ये शब्द पढ़ने वालों की आत्मा दहला देते हैं। इन्हें पढ़ा बहुत लोगों ने, क्योंकि अधिवेशन की सामग्रियों का विश्व के बड़े-बड़े संगठनों ने विस्तृत उपयोग किया, जैसे संयुक्त राष्ट्र-संघ ने, विश्व स्वास्थ्य सुरक्षा-संगठन ने, सुरक्षा और निरस्त्रीकरण की अंतर्राष्ट्रीय गैरसरकारी समिति ने।

मेमोरेंडम में दूरगामी खतरनाक परिणामों पर भी प्रकाश डाला गया था: श्वेतरक्तता और कैंसर के रोग में वृद्धि, जंतिकीय दोषों से युक्त बच्चों के जन्म का डर (बमबारी से बचे लोगों में ही नहीं, उन लोगों में भी, जो नाभिकीय युद्ध-स्थल से बहुत दूर जी रहे होंगे, क्योंकि रश्मिसक्रिय अवसादों के बादल सारे ग्रह पर फैल जायेंगे)। खेत, चरागाह और सागर भी विषाक्त हो जायेंगे। दुनिया में भुखमरी का राज्य होगा। रही-सही कसर इससे पूरी हो जायेगी कि अतिशक्तिशाली विस्फोटों से वातावरण में भी विनाशकारी परिवर्तन हो जायेंगे, जिनके बारे में हम अभी कोई सही अंदाज नहीं लगा सकते।

अधिवेशन ने संयुक्त राज्य अमरीका और सोवियत संघ के राजनेताओं से अपील की: "...वर्तमान और भावी संततियों के हित में यही है कि नाभिकीय युद्ध न हो। यह हमारे युग की

मांग है कि नाभिकीय अस्त्र का उपयोग किसी भी रूप में और किसी भी पैमाने पर न हो। इस उपलब्धि के लिये आपको हमारा पूरा समर्थन रहेगा"।

यही अपील सभी सरकारों से, संयुक्त राष्ट्रसंघ से और अपने तीस लाख कलीगों से भी की गयी थी। हमने नाभिकीय युद्ध के परिणामों के आँकड़ों से दुनिया के सभी डाक्टरों का परिचय कराया, आयुर संगठनों की बैठकों और सम्मेलनों में इस समस्या पर विचार-विमर्श करने का अनुरोध किया, आयुरी पत्रिकाओं में इन सामग्रियों को प्रकाशित कराने के लिये बिनती की, आयुर-छात्रों के समक्ष इस विषय पर व्याख्यान देने की मांग की, अपने रोगियों को इसके बारे में बताने की सलाह दी। लोग समझ जायें कि नाभिकीय युद्ध नहीं हो, इसके लिये वे हर तरह का प्रयास करें।

सच पूछें, तो मुझे, लाउन तथा अन्य सदस्यों को अनेकानेक देशों के सामान्य लोगों, सामाजिक व धार्मिक संस्थानों और पत्र-पत्रिकाओं से हमारे अधिवेशन पर इतनी बड़ी प्रतिक्रिया की आशा नहीं थी। इस प्रतिक्रिया को निम्न शब्दों में व्यक्त किया जा सकता है: आखिर ऐसे लोग भी हैं, जो नाभिकीय युद्ध की कलई खोलने से नहीं डरते; सच कहने से नहीं डरते, चाहे वह कितनी भी कड़वी क्यों न हो।

मुझे याद है कि निःशस्त्रीकरण और सुरक्षा के लिये अंतर्राष्ट्रीय गैरसरकारी समिति हमारी सूचनाओं से कितनी प्रभावित हुई थी। इस समिति में अनेक देशों के विख्यात राजनीतिज्ञ लोग काम कर रहे थे, जो अपने-अपने देशों की राजनीति को प्रभावित करने में समर्थ थे। इनमें संयुक्त राज्य अमरीका के भूतपूर्व राजसचिव साइरस वेंस भी थे। समिति के अध्यक्ष उलाफ

पाल्मे थे, जो कई बार स्वीडेन के मंत्रि-मंडल का नेतृत्व कर चुके थे। हमारे कार्यों की सराहना से भरे अनेक पत्र और टेली-ग्राम हमें मिले, लेकिन इनमें से न्यू-यार्क की एन पामेर का एक छोटा-सा टेलीग्राम मेरे दिल को छू गया था: "मैं और मेरे बच्चे आपके आभारी हैं"।

लोग समझ गये थे कि बात बच्चों के भविष्य की है!

हमारे अधिवेशन की अपील पर हमारे कलीगों ने भी जवाब देना शुरू किया। चार वर्षों में सैकड़ों-हजारों डाक्टर इस आंदोलन में शामिल हुए। दूसरा अधिवेशन इंगलैंड में हुआ था, जिसमें 31 देशों के डाक्टरों ने भाग लिया। तीसरा ऐम्स्टरडैम में हुआ, जहां 43 देशों ने भाग लिया। 1984 हेल्सिन्की में 53 देशों के डाक्टर भाग ले रहे थे। यह चौथा अधिवेशन था। इसकी अपील पर 10 लाख से अधिक डाक्टरों ने अस्त्र-होड़ के विरुद्ध अपने हस्ताक्षर किये।

आंदोलन में भाग लेने वाले लोगों की ओर से इस बात का अध्ययन जारी है कि नाभिकीय युद्ध से किन पैमानों पर खतरा संभव है। इस काम में अब विश्व स्वास्थ्य सुरक्षा-संगठन भी हाथ बटाने लगा है: उसने विशेषज्ञों की एक अंतर्राष्ट्रीय समिति बनायी। 1983 में इस समिति की रपट "जन-स्वास्थ्य और स्वास्थ्य-सेवा के लिये नाभिकीय युद्ध के परिणाम" पर संयुक्त राष्ट्रसंघ की जेनरल असेंबली में विचार हुआ और विशेष निर्णय में उसका बहुत ऊँचा मूल्यांकन किया गया।

नाभिकीय खतरे के विरुद्ध संघर्ष में अब अन्य प्रगतिशील वैज्ञानिकगण भी सक्रिय भाग लेने लगे हैं। दो साल पहले कई देशों की अकादमियों और कई अंतर्राष्ट्रीय वैज्ञानिक-समाजों ने मिलकर नाभिकीय युद्ध पर रोक के बारे में एक घोषणा-पत्र

प्रकाशित किया। सोवियत संघ की विज्ञान अकादमी के सदस्यों ने विश्व के वैज्ञानिकों से अपील की कि वे मानव-जाति को विनाश के खतरे से बचाने की हर संभव कोशिश करें। शांति की रक्षा के लिये और नाभिकीय खतरे के विरुद्ध सोवियत वैज्ञानिकों की एक समिति भी संगठित की गयी है और वह कार्यरत है। इस तरह की समितियां अनेक अन्य देशों में भी बनायी जा चुकी हैं। 1983 में "नाभिकीय युद्ध के बाद की दुनिया" विषय पर वाशिंगटन के कनफेरेंस में सोवियत तथा अमरीकी भौतिकविदों, गणितज्ञों, आयुरकों तथा मौसमविज्ञानियों ने मिलकर नाभिकीय युद्ध के भीषण परिणामों से संबंधित आँकड़े सारी दुनिया को बताये। यह कनफेरेंस टेलीवीजन के सहारे संगठित हुआ था। दोनों देशों के वैज्ञानिक टेलीवीजन के पर्दे पर एक-दूसरे को देखते थे और बातचीत करते थे, और यह सब सारी दुनिया के लोग देख-सुन रहे थे। आधुनिक विधि 'तंत्र-विश्लेषण' ने दिखाया कि कोई भी नाभिकीय युद्ध, चाहे वह छोटे स्थानीय रूप में ही क्यों न हो, पूरे मानव-जगत के जीवन के लिये खतरा पैदा कर सकता है। इसमें पहला चोट (या आक्रमण) खुद भी जवाबी आक्रमण का काम कर सकता है, अर्थात् उन लोगों को भी नष्ट कर दे सकता है, जिन्होंने पहले 'बटन दबाया'।

10 हजार मेगाटन की कुल शक्ति का नाभिकीय विस्फोट दो अरब लोगों को अपनी चपेट में डाल सकता है – यह पृथ्वी की आधी जनसंख्या है। शहरों पर आग के गुबार छा जायेंगे, जिनका तापक्रम 1000° सेंटीग्रेड से भी ऊँचा होगा। हमारे सगे ग्रह का वातावरण कालीख और धूल से इतना भर जायेगा कि सूर्य की किरणें उसकी सतह तक नहीं पहुँच पायेंगी – यह कंप्यूटरों ने ठीक-ठीक कलन कर रखा है। 'नाभिकीय रात्रि' छा जायेगी,

ग्रह के वातावरण में पूरी तरह उलट-फेर हो जायेगा – उसकी ऊपरी परतों का तापक्रम 100° सेंटीग्रेड होगा और पृथ्वी की सतह के पास उसका तापक्रम घटने लगेगा। उदाहरण के लिये, उत्तरी अमरीका में वह 34° घट जायेगा, मध्य यूरोप और अरब प्रायद्वीप पर 51° घट जायेगा। महादेश हिम-झंझा की चपेट में आ जायेंगे, सारा वनस्पति-जगत तथा जीव-जगत नष्ट हो जायेगा ... पेट्रोलियम के पूरे भंडार तथा अन्य रसायनिक द्रव्यों के जल जाने से वातावरण में जमा होने वाली जहरीली गैसों तथा रश्मिसक्रिय अवसादन की मात्रा के साथ-साथ कई अन्य घटकों को भी कलित किया गया, लेकिन मुख्य खतरे की तुलना में ये कुछ भी नहीं हैं – सिर्फ 'नाभिकीय रात्रि' ही पूरी पृथ्वी को जीवनरहित बना देने के लिये काफी है। (आगे के कलनों ने दिखाया कि जलवायु में विनाशकारी परिवर्तन के लिये 100 मेगाटन का ही नाभिकीय विस्फोट काफी है – यह अमरीका की कोई भी पनडुब्बी अकेला कर सकती है!)

इस तरह के अन्वीक्षण कई देशों में स्वतंत्र रूप से किये गये; परिणाम बिल्कुल एक जैसे मिले। इन परिणामों ने लोगों को इतना प्रभावित किया कि संयुक्त राज्य अमरीका के सिनेट की बैठक में अपनी बात कहने का अनुरोध किया। सोवियत वैज्ञानिक भी आमंत्रित थे, जिनका नेतृत्व सोवियत विज्ञान अकादमी के उपाध्यक्ष ये० वेलीखोव कर रहे थे। सिनेट यह सच्चाई सुनने को मजबूर था कि मानवता को बचाने का सिर्फ एक रास्ता है – 'छोटे' या 'बड़े', सभी प्रकार के नाभिकीय युद्धों की संभावना का पूर्ण उन्मूलन कर दिया जाये। 'दुनिया के डाक्टर नाभिकीय युद्ध के विरुद्ध' आंदोलन के सदस्य इस कटु सत्य को हर पृथ्वीवासी तक पहुँचाने के लिये कृतसंकल्प हैं। वे सभाएं

संगठित कर रहे हैं, पुस्तकें प्रकाशित कर रहे हैं, पत्र-पत्रिकाओं, रेडियो तथा टेलीवीजन के माध्यम से प्रचार कर रहे हैं।

हमारे आंदोलन को सोवियत राज्य तथा कम्युनिस्ट पार्टी के नेताओं से हमेशा ही समर्थन मिलता रहा है। तभी तो सोवियत संघ पहला देश निकला, जहां नाभिकीय युद्ध के विरुद्ध संघर्ष को 'हिप्पोक्रैट की शपथ' में शामिल करने का निर्णय पूरा किया गया (यह निर्णय ऐम्स्टेरडैम के कनफेरेंस में लिया गया था)।

सोवियत संघ में सर्वोच्च सोवियत के प्रेसीडियम ने डाक्टरों के शपथ-पत्र में ये बातें जोड़ने के प्रस्ताव को अनुमोदित कर दिया है। नाभिकीय खतरे से संघर्ष सोवियत आयुरकों का नागरिक कर्त्तव्य माना जा रहा है।

सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी, हमारी सरकार और हमारी जनता नाभिकीय युद्ध के विरुद्ध संघर्ष को सदा ही अपना कर्त्तव्य मानती रही है। नाभिकीय युद्ध शुरू करना पागलपन है और इसकी दुहाई देना अपराध है। आप सभी जानते हैं कि सोवियत संघ ने खुद प्रतिज्ञा की है कि वह नाभिकीय अस्त्र चलाने में कभी भी पहल नहीं करेगा और उसने विश्व के अन्य देशों से भी ऐसा ही कदम उठाने की अपील की है।

आज विश्व पर आतंक छाया हुआ है। पर कुछ वर्षों पूर्व सोवियत तथा अमरीकी डाक्टरों ने आशा का जो बीज बोया था, वह सचमुच अंकुरित हो चला है। हमारे आंदोलन में शामिल होने वाले आयुरकों की संख्या दिनबदिन बढ़ती जा रही है। और चूँकि हमारा नारा सरल और सुगम है, इसलिये देश-देश के लोग पृथ्वी की रक्षा के लिये संघर्ष की आवश्यकता को महसूस करते जा रहे हैं। अलग-अलग राष्ट्रीयता, अलग-अलग धार्मिक

तथा राजनीतिक विचारों के लोग भी इस बात पर एक हो रहे हैं।

आंदोलन शुरू होने से अबतक मुझसे विदेशों में हुए प्रेस-सम्मेलनों में लोग पूछ रहे थे: "क्या आपको यह नहीं लगता कि आप दोन किखोत हैं जो मामूली पवन-चक्की को दैत्य समझकर उससे लड़ने लगता है? क्या आप साधारण डाक्टर लोग उन राजनैतिक तथा सैन्य नेताओं पर कोई प्रभाव डाल सकते हैं, जो शस्त्रीकरण के विकास की योजनाएं बना रहे हैं और राज्यों के पारस्परिक संबंधों को निरूपित कर रहे हैं? आखिर युद्ध का होना न होना उन्हीं पर तो निर्भर करता है!"

मैं हमेशा एक उत्तर देता हूं (और इसमें मुझे विश्वास भी है) कि वर्त्तमान युग में सब कुछ अंततः विश्व-जनता के संकल्प पर ही निर्भर करता है; सब कुछ उन्हीं के हाथ में है। उनकी समझ और उनके निर्णय पर निर्भर करता है कि युद्ध होगा या नहीं होगा। नाभिकीय अस्त्र का उपयोग चालीस से अधिक साल से नहीं हुआ है, इसमें भी जनता की मनोभावनाओं का ही हाथ रहा है, जो युद्ध के बजाय शांति और संपन्नता की आकांक्षी है।

ये बातें आज यूरोप और अमरीका के, एशीया और अफ्रीका के सभी लोग स्पष्ट रूप से समझने लगे हैं। नाभिकीय युद्ध को रोकने के लिये डाक्टरों के अंतर्राष्ट्रीय आंदोलन के साथ-साथ विभिन्न देशों में अन्य पेशों के प्रतिनिधियों ने भी अपने आंदोलन छेड़ दिये हैं, जिनका सपना इस 'अंतिम महामारी से पृथ्वी की रक्षा करना है'।

मैं वह दिन कभी नहीं भूल सकता, जब कुछ साल पहले हृदलोचनी केंद्र में एक सुडौल गठीला अमरीकी मेरे पास

आया। आकर उसने अपना परिचय दिया: "अंतरिक्ष-यात्री श्वाइकेर"।

उसने बताया:

"मैं आप से बातचीत करने आया हूँ, ताकि अस्त्र-होड़ के विरुद्ध विज्ञान-सम्मत संघर्ष शुरू करने वाले आप लोगों का दृष्टिकोण समझ सकूं। बात यह है कि मैं अंतरिक्षी अध्ययन के विकास में भाग लेने वाले अंतरिक्ष-यात्रियों को भी नाभिकीय अस्त्रों के विरुद्ध संघर्ष के लिये प्रेरित करना चाहता हूँ।"

नतीजा आप जानते ही हैं: 1984 में सोवियत तथा अमरीकी अंतरिक्ष-यात्रियों का सम्मेलन हुआ, जिसमें उन्होंने अंतरिक्ष को शांतिमय बनाये रखने के लिये विश्व की जनता का आह्वान किया, ताकि वह रणक्षेत्र बनकर न रह जाये। सम्मेलन प्रभावशाली रहा। आखिर अंतरिक्ष-यात्री अपने देश के राष्ट्रीय हीरो माने जाते हैं न!

...भविष्य की चिंता सिर्फ बड़ों की ही नहीं, बच्चों की भी है। इसीलिये हमारे आंदोलन के अंतर्गत अमरीका, फिनलैंड, सोवियत संघ तथा अनेक अन्य देशों के डाक्टर बच्चों, खासकर स्कूली बच्चों की मनोस्थिति पर उस माहौल के प्रभाव का अध्ययन करने लगे हैं, जो अभी दुनिया में छाया हुआ है। एक अन्वीक्षक – डाक्टर एरिक चीवियान – ने इस विषय पर एक टेलीवीजन-फिल्म बनायी, जिसका नाम था – "बच्चे और नाभिकीय युद्ध" (अमरीकियों पर इस फिल्म का गहरा प्रभाव पड़ा था)।

चीवियान सोवियत संघ भी आये थे, पायोनियर शिविर में रहे, स्कूलों में सोवियत बच्चों के साथ बातचीत की। मुझे याद है कि वे कितना विस्मित हुए थे: "आप जानते हैं कि मुझे किस बात पर आश्चर्य होता है? मैं अमरीका और सोवियत संघ

दोनों देशों के स्कूलों के बच्चों से बातें कर चुका हूँ। मुझे आपके यहां के बच्चों की आशावादिता पर आश्चर्य होता है। उन्हें विश्वास है कि उनके माता-पिता नाभिकीय युद्ध को रोकने के लिये कोई भी कसर नहीं छोड़ेंगे। वे हताश नहीं हैं, उनमें भविष्य के प्रति आतंक की वैसी भावना नहीं है, जैसी अमरीकी बच्चों में है...।"

लेकिन कई अमरीकी बच्चे भी नाभिकीय युद्ध के विरुद्ध सक्रिय रूप से संघर्ष कर रहे हैं। आपको अमरीकी स्कूल की छात्रा सामांता स्मित याद हुई होगी, जिसने "राष्ट्रपति आंद्रोपोव और राष्ट्रपति रीगन" के नाम पत्र भेजा था और उसमें दो अग्रणी देशों के राजनेताओं से नाभिकीय युद्ध रोकने का हर संभव प्रयत्न करने का अनुरोध किया था। सामांता हमारे देश भी आयी थी, यहां स्कूलों में उसने अनेक मित्र बना लिये थे। फिर मेरे मित्र बेर्नार्ड लाउन ने एक अन्य अमरीकी बच्ची कामिल टेलर को प्रशंसा के कुछ शब्द लिखने का अनुरोध किया। कामिल ने अस्त्र-होड़ पर रोक के लिये अपने हाथों से एक आह्वान रचा और उस पर विभिन्न देशों में अपने हमउम्रों के हस्ताक्षर जमा करने शुरू कर दिये। उसका मर्मस्पर्शी पत्र किसी की भी आत्मा को आलोड़ित किये बिना नहीं रह सकता: "मुझे यह जानकर बहुत खुशी हुई कि सोवियत संघ में ऐसे अनेक बच्चे हैं, जो मुझसे सहमत हैं। उनसे कभी मिलने की मेरी बहुत इच्छा है। मैं अपनी अपील पर अबतक 22 प्रांतों और 8 देशों में 3800 हस्ताक्षर जमा कर चुकी हूँ।"

विदेशों में अपने कलीगों या पत्रकारों से मुझे जो प्रश्न दिये जाते हैं, उनमें से एक प्रश्न कुछ इस प्रकार का है: "आप विख्यात वैज्ञानिक हैं, डाक्टर हैं, आपको ऐसी समस्याओं से

उलझने की क्या आवश्यकता है, जो आपके मुख्य कार्य में बाधा ही डालती है, आपके वैज्ञानिक खोजों में रुकावट डालती है? आखिर ऐसी समस्याओं से आपका वास्ता क्या है?"

शुरू-शुरू तो मैं आवाक रह जाता था, क्योंकि ऐसी बातें समझानी पड़ती थीं, जो हमारे लोगों के लिये स्वतः स्पष्ट हैं। चाहे कोई भी कार्य-क्षेत्र लें, पृथ्वी पर ऐसा एक भी आदमी नहीं मिल सकता, जो इस अंतिम महामारी – नाभिकीय युद्ध – के खतरे से शांतचित्त होकर समझौता कर ले।

मेरे लिये सबसे बड़ा उपहार, सबसे बड़ी खुशी यही है कि जिस विचार को लेकर हमने आंदोलन शुरू किया है, उसके नित्य नये-नये समर्थक मिलते जायें। यह हो भी रहा है, क्योंकि लोग अब साफ-साफ समझने लगे हैं कि उनके पास और कोई चारा नहीं है।

"...हमारे सामने कोई विकल्प नहीं है। हमें साथ-साथ मरना होगा या फिर मानव-जाति के विकास के लिये मिलकर काम करना होगा" – ये शब्द पहली बार मैंने अपने एक अमरीकी कलीग से सुने थे, इसके बाद ये अनेक वैज्ञानिकों तथा सामाजिक कार्यकर्त्ताओं के होंठों पर आ गये। और यदि दुनिया के सभी लोग इस बात को अच्छी तरह समझ लेंगे, तो हम शांति को सुरक्षित रख सकेंगे। शांति को सुरक्षित रख सकेंगे, तुम बच्चों के लिये, जिनके लिये यह किताब मैं लिख रहा हूँ। तुम्हारे ही भविष्य के लिये। तुम्हें जीना है, काम करना है, ढूंढ़ना है, चुनौतियों भरा रास्ता तय करना है। तुम्हारे जीवन में खुशियां आयेंगी। दुख के बादल भी मंडरायेंगे। तुम्हें जिंदगी देखनी है। इसीलिये कोशिश करनी चाहिये कि तुम्हारा भविष्य नाभिकीय युद्ध से विषाक्त न हो जाये।

पिछले साल शिक्षा, विज्ञान और संस्कृति के विकास से संबधित संयुक्त राष्ट्रसंघ के संगठन यूनेस्को ने 'दुनिया के डाक्टर नाभिकीय युद्ध के विरुद्ध' आंदोलन को अपने पुरस्कार 'शांति-प्रचार' से सम्मानित किया। आंदोलन के सहाध्यक्षों के रूप में मुझे और बेर्नार्ड लाउन को पुरस्कार प्रदान करते वक्त यूनेस्को के प्रतिनिधि नाप्प ने तापनाभिकीय महाविनाश के विरुद्ध लोकमत को आगे बढ़ाने में हमारे आंदोलन की भूमिका का बहुत ऊँचा मूल्यांकन किया। और सचमुच, यदि हम नाभिकीय युद्ध को एक कदम भी पीछे हटाने में सफल हो जाते हैं, तो इसका मतलब है कि हमारे प्रयत्न बेकार नहीं गये।

बेर्नार्ड लाउन ने अपने एक भाषण में कहा था: "आज जिन अंतरिक्षी पैमाने की शक्तियों से हमारा वास्ता पड़ रहा है, उसे देखकर निराशावाद के दलदल में फँस जाना बहुत आसान है। लेकिन डाक्टर के लिये, जिसका कर्त्तव्य जीवन की रक्षा करना है, आशावाद एक आयुरी अनिवार्यता है।"

अब अंतरिक्ष हमारा कार्य-स्थल है

जब मैंने मेधावी शरीरलोचक वसीली पारीन के नेतृत्व में अंतरिक्षी आयुर की आवश्यकताओं से संबंधित प्रथम खोजों में भाग लिया था, तब से करीब चौथाई शती बीत चुकी है। मुझे इस क्षेत्र में फिर से आना पड़ा, लेकिन इस बार वह ऐसा नहीं था, जैसा वह अपने 'शैशव' में था। आयुरो-जीवलोचनी संस्थान के कलीगों तथा उसके निर्देशक – अकादमीशियन ओलेग गाजेन्को – के साथ हम हृदलोचक भी आज के सबसे लंबे अंतरिक्ष अभियान के कार्यक्रम में आयुर के अध्ययन से संबंधित योजनाओं की

रूपरेखा बनाने लगे। इस अभियान के तहत सोवियत अंतरिक्ष-यात्राओं के इतिहास में पहली बार एक डाक्टर को अन्वीक्षक के रूप में अंतरिक्ष-यात्रा करनी थी।

प्रथम डाक्टर बोरीस येगोरोव बीस साल पहले अंतरिक्ष की यात्रा पर गये थे। वहां उनका काम आज की दृष्टि से बहुत ही छोटा था। उन्हें प्रत्यक्ष अवलोकन करना था कि मानव-शरीर पर प्रयाणकालीन अतिबोझ का क्या असर पड़ता है, भारहीनता के साथ अनुकूलन की प्रक्रिया अपने प्रथम चरण में किस तरह चलती है। क्योंकि लंबी उड़ानों के सपने उसी समय शुरू हुए थे।

लेकिन वर्तमान समय में अंतरिक्षी आयुर बहुत अधिक ज्ञान संग्रह कर चुका है, वह अब उत्तम अन्वीक्षण-तकनीक से लैस है। उदाहरण के लिये, स्टेशन 'साल्यूत-7' को इस तरह से लैस किया गया है कि धरती पर भी अनेक प्रयोगशालाएं ईर्ष्या कर सकती हैं। हमारे हृदलोचनी केंद्र की इस 'अंतरिक्षी शाखा' में काम करने के लिये मेरे शिष्य ओलेग आत्कोव को चुना गया। वे एक गंभीर वैज्ञानिक हैं, उत्कृष्ट चिकित्सक हैं, असाधारण लगन और मेहनत के आदमी हैं। सबसे बड़ी बात तो यह है कि वे इस कठिन कार्य के लिये मनोलोचनी रूप से तैयार थे, जिसे उन्हें लेयोनीद कीजीम तथा व्लादीमीर सोलोव्योव के साथ करना था।

इसके अतिरिक्त ओलेग आत्कोव अंतरिक्षी कार्यों के साथ पहले से भी संबंधित थे। वे प्रोफेसर यूरी बेलेन्कोव (ये भी मेरे शिष्य हैं) तथा मेरे एक वैज्ञानिक सहायक ओलेग यूर्येविच के नेतृत्व में बहुत लंबे अर्से से प्रतिध्वनिक हृदलोचन का अध्ययन कर रहे थे, जिसमें हृदय का अन्वीक्षण परास्वनि की सहायता से किया जाता है।

परास्वनि से हृदय ही नहीं, यकृत और अन्य आंतर अंगों को 'देखने' की विधि अब आयुर में अपनी जड़ें फैला चुकी है और धीरे-धीरे शायद वैसा ही स्थान बना लेगी जैसा पहले एक्सरे का था। इस विधि की खूबी यह है कि इसमे शरीर के आन्तरिक अंगों के ऊतकों से टकराकर पर्दे पर उनकी आकृतियों और त्रुटियों का चित्र एक्स-किरणें नहीं, बल्कि परास्वनिक तरंगे देती हैं। एक्स-किरणों में आखिर ऊर्जा की कुछ न कुछ हानिकर मात्रा अवश्य होती है, पर परास्वनिक तरंगें कोई हानि नहीं पहुँचातीं। उपकरण से प्राप्त चित्र के आधार पर हृदलोचक एक ही साथ हृदय और कुंभियों की अवस्था का मूल्यांकन कर सकता है; उदाहरणतया, वह हृदय के कोष्ठों तथा प्रवेश-मार्ग का आयतन और हृद-कपाटों के छेद का व्यास जान लेता है। इन सूचनाओं से डाक्टर छोटे से छोटे परिवर्तनों का पता लगा ले सकता है।

इस विधि का उपयोग अनेक आयुर-संस्थानों तथा तल्पालयों में हो रहा है, पर बेलेन्कोव और आत्कोव के यहां इसके इंजीनी-यरी पक्ष को विकसित करने पर अधिक जोर दिया जा रहा था, ताकि यह पता चले कि उपकरण से क्या आशा की जा सकती है और क्या नहीं, किन जानकारियों के लिये उसमें क्या सुधार लाने होंगे, आदि। इसीलिये इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि अंतरिक्ष-यात्रियों के अन्वीक्षण के लिये इन्हीं को आमंत्रित किया गया।

इसके बाद सीधे अंतरिक्षी स्टेशन पर ही हृदय के परास्वनिक अन्वीक्षण का विचार उत्पन्न हुआ। लेकिन जिस प्रतिध्वनिक हृदलेख का उपयोग तल्पालयों में हो रहा था, वह पचासों किलो-ग्राम भारी था। अंतरिक्ष के लिये एक नन्हे उपकरण की आवश्यक-

प्रतिध्वनिक हृदलोचन
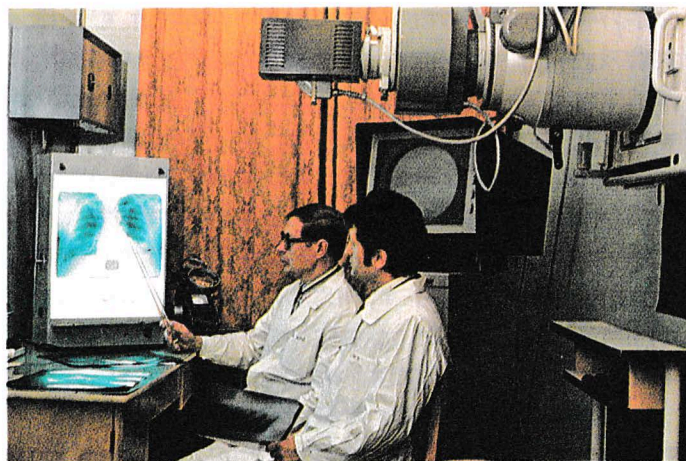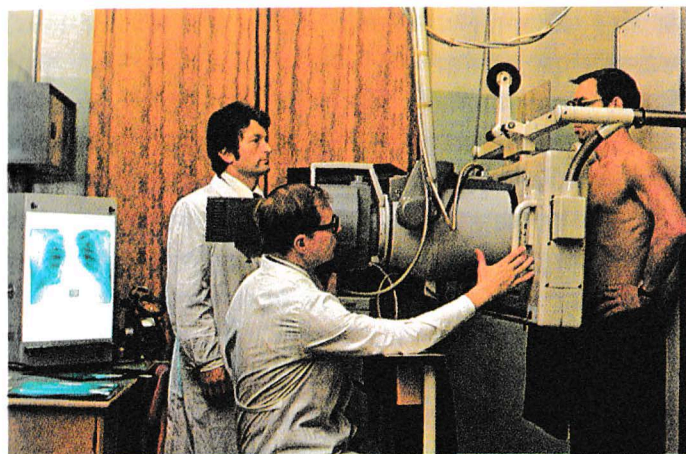
ता थी। उसे बनाने में बेलेन्कोव तथा आत्कोव ने भाग लिया। फलस्वरूप एक छोटा-सा ढाई किलोग्राम का उपकरण तैयार हुआ, जिसका नाम 'आर्गुमेंत' रखा गया। फिर 3 जून 1982 को अंतरिक्षी स्टेशन 'साल्यूत-7' से हृदय के परास्वनिक अन्वीक्षण संबंधी सामग्रियाँ पृथ्वी पर आयीं। यह हमारे लिये बहुत बड़ी जीत थी। इस घटना की खबर हृदलोचकों के अंतराष्ट्रीय सम्मेलन को दी गयी, जो उस समय मास्को में चल रहा था। सम्मेलन में भाग लेने वालों ने इस खबर का बड़े उत्साह से स्वागत किया था।

'साल्यूत-7' पर अंतरिक्ष-यात्री के रूप में हृदलोचक का मुख्य काम था – लंबे समय तक भारहीनता की अवस्था में रहने से शरीर में होने वाले परिवर्तनों की प्रवेगिकी (परिवर्तनों की लड़ी) का अध्ययन करें; जिन कठिन परिस्थितियों में अंतरिक्ष-यात्री रहते हैं, काम करते हैं, उनके साथ हृत्कुंभिक, हर्मोनिक तथा अन्य तंत्रों का अनुकूलन कैसे होता है, उनका कार्य कैसे चलता है, इसका विस्तार से विश्लेषण करें।

इस अध्ययन का व्यावहारिक पक्ष भी था। लंबी उड़ानों के समय अंतरिक्ष-यात्रियों को बहुत अधिक समय शारीरिक व्यायाम में ही खर्च करना पड़ता है, ताकि उड़ान के हानिकर घटकों से होने वाली क्षति की पूर्त्ति की जा सके, पेंशियों को पार्थिव भार में काम करने की आदत न छूट जाये, पेंशियों तथा अन्य अंगों की कोशिकाओं में हानिकर जीवरसायनिक परिवर्तन न होने लगें।

अब यह भी सुनिश्चित करना था कि शारीरिक बोझ के इस क्रम में किस तरह के परिवर्तन लाये जायें। उदाहरण के लिये, यह पता लगाना था कि बोझ में आवश्यक वृद्धि करने के साथ-साथ उसपर व्यय समय की बचत कैसे की जाये, ताकि

इससे अंतरिक्ष-यात्रियों को अपना मुख्य कार्य करने के लिये अधिक समय मिले। उनके सामने अधिक महत्त्वपूर्ण काम है– अधिक बड़े कक्षकीय स्टेशन बनाना, जिसमें अधिक लोग काम कर सकें। अंतरिक्ष-यात्रियों का कार्य-दिवस कितना लंबा रखना श्रेष्ठ होगा? ऐसे प्रश्न का उत्तर सिर्फ प्रयोग ही दे सकते हैं, जो कक्षक पर किये जा रहे हैं। जमीन पर दूरमापन की सहायता से सभी सूचनाएं नहीं भेजी जा सकतीं, इसलिये वहां एक डाक्टर का होना बहुत जरूरी है, जो परीक्षणाधीन लोगों पर पड़ने वाले बोझ के बदलाव से उनके शरीर के विभिन्न तंत्रों की प्रतिक्रियाओं का अध्ययन सीधे अंतरिक्ष में ही कर सके।

इन अन्वीक्षणों के साथ एक अन्य प्रयोग भी संबंधित है, जिसका नाम पड़ा है 'मेंब्रान' (झिल्ली)। इसके लिये हृदलोचक आत्कोव को, जो फलनात्मक निदानिकी के विशेषज्ञ हैं, जीवरसाय-नी अन्वीक्षक का काम भी सीखना पड़ा। पिछले एक अध्याय में मैंने 'आयनी पपों' के अध्ययन के बारे में बताया था, जो हमारे हृदलोचनी केंद्र में हो रहा था। आयनी पंप सोडियम, मैग्नेशियम या कैल्सियम के आयनों को कोशिका के भीतर (झि-ल्ली को पार करा कर) ले जाता है; वहां कोशिका-रसायन में ये बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। पृथ्वी पर या अंतरिक्ष में इस विषय पर जो खोज-कार्य हो रहे हैं, उनमें हृदलोचकों की सबसे अधिक दिलचस्पी कैल्सियम में है। कैल्सियम के आयन संकेत का काम करते हैं, जो पेशीय तंतुओं को सिकुड़ने के लिये प्रेरित करता है। प्रथम दीर्घकालीन कक्षकीय उड़ानों में ही यह देखा गया कि भारहीनता इसी तत्त्व के विनिमय को प्रभावित करती है–कैल्सियम अंतरिक्ष-यात्री के शरीर से विसर्जित होने लगता है। अंतरिक्षी आयुरकों ने आवश्यक कदम उठाये, वे

तथाकथित प्रति-आक्सीकारकों का उपयोग करने लगे। ये ऐसे प्रसाधन हैं, जो विनिमय में होने वाली गड़बड़ी को रोकते हैं, उससे होने वाली क्षति की पूर्त्ति करते हैं। इससे कुछ सफलता भी मिली। लेकिन अबतक आयुरकों को सिर्फ प्रभाव का ज्ञान था, जो भारहीनता से उत्पन्न होता था और जो इन प्रसाधनों से उत्पन्न होता था। लेकिन ये प्रभाव किस तरह से उत्पन्न होते हैं, यह नहीं मालूल था।

'मेंब्रान' नामक प्रयोग से अंततः वे प्रक्रियाएं अंकित की जा सकीं, जो कोशिकीय झिल्ली की उपसूक्ष्मदर्शीय संरचनाओं में चलती हैं—वे प्रक्रियाएं भी, जिनके कारण कैल्सियम के विनिमय में गड़बड़ी होती है, और वे भी, जिनके कारण वह ठीक हो जाता है। अतः अब हम जान गये हैं कि कोशिका की झिल्ली के साथ प्रति-आक्सीकारकों के अणु किस प्रकार व्यतिक्रिया करते हैं। आपको बता दें कि प्रति-आक्सीकारक पृथ्वी पर भी प्रयुक्त होता है—हृदरोगों के इलाज में।

इस प्रयोग का महत्त्व यह है कि इसे कृत्रिम रूप से बनायी गयी परिस्थितियों में नहीं, बल्कि वास्तविक परिस्थितियों में संपन्न किया गया था। इसीलिये परिणामों के सही होने पर कोई संदेह नहीं उठता। प्रयोग का महत्त्व और भी बढ़ जाता है, जब इसके परिणामों की तुलना सामान्य प्रयोगशाला के परिणामों के साथ की जाती है, क्योंकि भारहीनता की परिस्थिति में सभी भौतिकीय व रसायनिक प्रक्रियाएं अपने 'शुद्ध' रूप में चलती हैं, पार्थिव घटकों के प्रभाव से परिवर्तित नहीं होतीं। आखिर यह कोई संयोग की बात नहीं है कि अंतरिक्ष में अतिशुद्ध द्रव्यों का क्रिस्टलीकरण किया जाता है और जीव-तकनीकी (अतिशुद्ध प्रोटीनी तथा अन्य सक्रिय शरीरलोचनी प्रसाधन प्राप्त करने के

लिये) प्रयोग किये जाते हैं। ऐसे प्रयोग इस अंतरिक्ष अभियान के दौरान भी किये गये थे।

दूसरा जीवरसायनिक प्रयोग, जिसे ओलेग आत्कोव ने किया, 'गेन' (जीन) नाम से जाना जाता है। यह बहुत ही जटिल और श्रमसाध्य प्रयोग था और कई दिनों तक चलता रहा। जीन के संचार की समस्या पर यह अत्यंत महत्त्वपूर्ण अन्वीक्षण रहा।

आप जानते हैं कि आनुवांशिकता संबंधी सभी सूचनाएं डेनू अम्ल (डी० एन० ए० – डेजोक्सीरीबोनुक्लेइक अम्ल) के विराट अणुओं में रसायनिक कोड के रूप में अंकित रहती हैं। ये अणु कोशिका के नाभिक में बंद रहते हैं। यह बहुत समय से ज्ञात है कि जीन, अर्थात डेनू अम्ल के अणु में अलग-अलग आनुवांशिक विशेषताओं को वहन करने वाले हिस्से एक रंज्यकाय (क्रोमोसोम) से दूसरे में स्थानांतरित होने का सामर्थ्य रखते हैं। अपेक्षाकृत हाल में पता चला है कि जीन एक कोशिका से दूसरी में तथा एक शरीर से दूसरे में भी स्थानांतरित हो सकते हैं।

जीन के स्थानांतरण का रहस्य 'आधुनिकतम' जीवरसाय-निक जंतिकी की सबसे रोचक तथा महत्त्वपूर्ण समस्याओं में से एक है। पर इस प्रक्रिया की आरंभिक कड़ी – डेनू अम्ल के अणु को अलग-अलग पूर्ण जीनों में इस तरह विभाजित करना कि वे अपना काम करते रहें, ऐसी प्रक्रिया भी कार्यान्वित करना बहुत कठिन है। लेकिन जीनी इंजीनियरी इसी काम पर निर्भर करता है। जीनी इंजीनियरी और कुछ नहीं, अन्वीक्षण की एक दिशा है, जो जीन आरोपित करने के सपने से प्रेरित होकर निक-ली है। इसमें सफलता मिलने पर प्रकृति की 'गलतियों' को सुधारा जा सकेगा, अर्थात् जंतिकीय (आनुवांशिक) रोगों की

चिकित्सा की जा सकेगी – रोगी के शरीर में डेनू अम्ल के दोषपूर्ण भागों की जगह स्वस्थ जीन लगाकर। जब हमलोग साल्यूत पर अन्वीक्षण की योजना रच रहे थे, हमने निश्चय किया कि डेनू अम्ल को विभाजित करने के लिये भारहीनता की परिस्थिति का उपयोग किया जाये।

इस अनूठे प्रयोग के लिये बिल्कुल नये सिद्धांत पर काम करने वाले उपकरण की जरूरत पड़ी। स्वाभाविक है कि इसे छोटा भी होना था और हल्का भी, क्योंकि प्रति किलोग्राम माल कक्षक तक पहुँचाने का खर्च अभी बहुत अधिक है। इसके अतिरिक्त उपकरण ऐसा भी होना चाहिये कि अंतरिक्ष में वह काम कर सके। सोवियत इंजीनियरों और तकनीशियनों ने एक बहुत ही सफल उपकरण 'गेनोम' बना कर दिया, जिसके लिये हम उनके बहुत ही कृतज्ञ हैं। लेकिन इसे उपयोग में लाने के लिये कक्षकीय स्टेशन पर अन्वीक्षक को बहुत सूक्ष्म कुशलता दिखानी पड़ी।

आत्कोव को 237 दिन तक हृदलोचक, तल्पिक शरीरलोचक, जीवरसायनविद और मनोचिकित्सक का काम एक साथ करना पड़ा, क्योंकि आयुरी मनोलोचन से संबंधित अन्वीक्षण का भार भी उन्हीं पर था। लेकिन इस विषय पर संक्षेप में कुछ कह पाना संभव नहीं है।

*

अब फिर से पिछले अध्याय में चर्चित बातों की ओर लौटते हैं।

अक्तूबर 1957 में जब पृथ्वी का प्रथम स्पूत्‌निक प्रक्षिप्त किया गया था, उस समय मैं म्यास्निकोव के विभाग में सहायक था, बीमारों की चिकित्सा करता था, छात्रों को पढ़ाता था।

तब मैं यह सोच भी नहीं सकता था कि मानवता की इस नयी खोज से संबंधित क्षेत्र में भी कभी काम करूंगा। उस सुबह सभी जाने-अनजाने लोगों की जबान पर एक ही बात थी – सिर्फ 'स्पूत्निक! स्पूत्निक!' हम सभी खुशी महसूस कर रहे थे कि आदमी अब एक और सीमा को लांघ चुका है। इस घटना से सिर्फ हमारा देश ही नहीं, सारा विश्व अचंभित हो उठा था। रूसी शब्द 'स्पूत्निक' अब एक अंतर्राष्ट्रीय शब्द बन चुका है। रेडियो पर हर 'हाल की खबरों' में स्पूत्निक द्वारा प्रेषित संकेत सुनाये जाते थे। इन संकेतों में छिपी हुई सूचनाओं को सिर्फ विशेषज्ञ ही समझ सकते थे, पर उसे सुनते थे सभी। और वह भी कोई एक बार नहीं, दसियों बार। यह अंतरिक्ष से आने वाला पहला स्वर था! समाचार-पत्र हर दिन बताते थे कि आज अमुक समय स्पूत्निक मास्को के ऊपर से गुजरेगा, आज पेरिस के ऊपर से गुजरेगा, खाबारोव्स्क के ऊपर से गुजरेगा, टोकियो, सेंट फ़्रांसिस्को के ऊपर से गुजरेगा, आदि। और दुनिया की सभी जगहों में लोग शामों को घर से बाहर निकल आते थे और यदि आकाश साफ होता था, तो रात्रि के नभ को पार करते हुए एक तारे को देखकर खुशी से कहते थे: स्पूत्निक! स्पूत्निक उड़ रहा है!"

...इसके साढ़े तीन वर्ष बाद अप्रैल की धूप भरी सुबह को रेडियो पर घोषणा हुई कि पृथ्वी के निकटस्थ कक्ष पर पहली बार अंतरिक्ष-यान भेजा गया है, जिसका संचालन सोवियत नागरिक यूरी गागारिन कर रहे हैं। कितनी खुशी हुई थी!

हम सभी काम पर थे, लेकिन जबतक यह खबर नहीं आयी कि उड़ान सफल रही है, कोई भी ढंग से अपना काम करने में समर्थ नहीं था। और मास्को राजकीय विश्वविद्यालय के पुराने

भवन से, जहां उस समय प्रथम आयुर-संस्थान के अनाटोमिक और शरीरलोचनी विभाग थे, सारे छात्र बाहर निकल आये थे। वे सभी सफेद लबादों में थे, जिनपर उन्होंने लिख रखा था: 'सभी अंतरिक्ष चलें!' और 'अंतरिक्ष में हम प्रथम हैं!'

हमें गौरव करने का पूरा अधिकार है कि हमारे वैज्ञानिकों, हमारे इंजिनियरों और हमारे अंतरिक्ष-यात्रियों ने शांतिमय अंतरिक्ष का कपाट खोला। खोला, इसलिये कि कक्षक से, जहां वातावरण बाधक नहीं होता, तारों को स्पष्टता से देखा जा सके, 'काले विवरों' का अध्ययन हो सके, भारहीनता में अतिशुद्ध द्रव्य प्राप्त किये जा सकें, मौसम की भविष्यवाणी के लिये आवश्यक प्रेक्षण किये जा सकें, पृथ्वी की गहराइयों में छिपी निधियों का पता लगाया जा सके, टेलीवीजन के कार्यक्रम और टेलीफोन पर बातचीत, दुर्घटनाग्रस्त जहाजों, विमानों और अभियानों के संकेत हजारों किलोमीटर दूर प्रेषित किये जा सकें। इसलिये कि सौर मंडल के ग्रहों और निकट आते धूमकेतुओं पर अंतरिक्षी प्रेक्षा-यान भेजे जा सकें।

लेकिन विज्ञान और तकनीक की हर उपलब्धि कल्याणदायक भी हो सकती है और विनाशकारी भी। यह इस बात पर निर्भर करता है कि उपलब्धि कैसे लोगों के हाथों में है। बाद में सबसे अधिक शक्तिशाली पूंजीवादी देश – संयुक्त राज्य अमरीका – भी अंतरिक्ष में आया और अब तारक युद्ध की तैयारी कर रहा है, अंतर्राष्ट्रीय संधियों की अवहेलना करके अंतरिक्ष में विनाशकारी अस्त्र ले जा रहा है। यह सिर्फ संधियों की ही अवहेलना नहीं है, यह मानव-बुद्धि की अवहेलना है।

हिटलरी फासिस्टों पर विजय की चालीसवीं वर्षगाँठ पर

सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी की केंद्रीय समिति, सोवियत संघ की सर्वोच्च सोवियत और मंत्रि-मंडल ने सभी देशों की जनता और उनकी सरकारों से एक अपील की, जिसकी कुछ पंक्तियां यहां उद्धृत कर रहा हूँ:

"अब युद्ध-साधनों में गुणात्मक परिवर्तन हो चुके हैं। यदि मानवता के पूरे इतिहास में सारे युद्धों से कुल सौ-एक लाख लोग ही मरे हैं, तो तीसरे महायुद्ध से पूरी मानव-जाति नष्ट हो जा सकती है। यदि हमारे ग्रह पर नाभिकीय अंधड़ चलेगा, तो उसपर से जीवन का नामो-निशान मिट जायेगा।

...पृथ्वी – यह सभी जन-जातियों का सामूहिक घर है, मानवता का घर है। सोवियत जनता को परायी जमीन नहीं चाहिये। हम किसी पर अपना विश्व-दृष्टिकोण और अपने जीवन का ढंग लादना नहीं चाहते... सोवियत जनता को सृजनात्मक कार्यों के लिये शांतिपूर्ण परिस्थितियों की आवश्यकता है... हमारा आदर्श, हमारी स्थायी चिंता का विषय है – पूर्ण और सार्विक निःशस्त्रीकरण, न्यायपूर्ण शांति।

...सोवियत संघ सभी जनताओं और राज्यों का, उनकी विधान-सभाओं और सरकारों का आह्वान करता है कि वे अंतरिक्ष में अस्त्र-होड़ पर रोक और पृथ्वी पर उसकी समाप्ति के लिये हर संभव कोशिश करें, नाभिकीय अस्त्रों को सीमित करने, कम करने और फिर पूर्णतया नष्ट करने की हर संभव कोशिश करें।"

यह मानव-बुद्धि की पुकार है।

सिर्फ हृदय से

मैंने उतना नहीं बताया है, जितना बता सकता था, फिर भी आशा है कि पाठक ने थोड़ा-बहुत जरूर ही महसूस किया होगा कि आज का हृदलोचन कैसा है, किन रास्तों और किन मंजिलों से गुजरा है। यह सब उन सुविधाओं से संभव हुआ है, जिन्हें हमारे सोवियत राज्य और हमारी जीवन-शैली ने विज्ञान के विकास के लिये प्रस्तुत किया है।

बहुत-सी बातों का ज्ञान हमने स्वयं प्राप्त किया है। बहुत कुछ अन्य देशों से सीखा है, क्योंकि सभी देशों-महादेशों के वैज्ञानिक आपस में हमेशा एक संपर्क बनाये रखते हैं।

हम ऐसे रोगों का भी बहुत अच्छा इलाज कर सकते हैं, जिनके सामने आयुर कुछ ही वर्ष पूर्व चुपचाप सिर झुका दिया करता था। लेकिन हमारा कर्त्तव्य सिर्फ क्षतिग्रस्त की 'मरम्मत' करना ही नहीं है, रोग का निरोध करना भी है, उसके आक्रमण से लोगों को पहले से ही बचाना, पहले से ही उसकी रोकथाम करना भी है।

30 वर्ष से अधिक समय से हम युद्ध के स्त्रेसदायक घटकों से मुक्त हैं। हमारी कम्युनिस्ट पार्टी और हमारी सरकार की नीति का उद्देश्य यही है कि युद्ध का खतरा लोगों के जीवन से हमेशा-हमेशा के लिये टल जाये।

हमारे यहां लोग अभाव में नहीं जी रहे हैं, वे अपने भविष्य के प्रति आश्वस्त रहते हैं। हर वर्ष लाखों लोगों को नये, सुख-सुविधापूर्ण घरों में अलग-अलग फ्लैट मिल रहे हैं, ताकि वे व्यक्तिगत जीवन शांति के साथ बिता सकें। सैनेटोरियम, विश्राम-गृह, यात्रा, क्रीड़ा, रंगशाला कलात्मक या किसी भी सृजनात्मक

कार्यों में लगे रहने की सुविधा – यह सब हमारे सोवियत जीवन की आम बातें हैं, जो लोगों के मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य के आधार हैं।

लेकिन रोग-निरोध सिर्फ सरकार और आयुरकों का ही काम नहीं है। हम सिनेमा, रेडियो, टेलीवीजन, पत्र-पत्रिकाओं आदि के माध्यम से समझाते रहते हैं कि आस-पास के लोगों के स्वास्थ्य की रक्षा करना हर व्यक्ति का कर्त्तव्य है, उस पर भी बहुत कुछ निर्भर करता है।

आदमी को सामाजिक हितों के लिये सृजनात्मक कार्यों से भरापूरा जीवन व्यतीत करना चाहिये। सक्रियता से निष्क्रियता में संक्रमण भी तनावजनक प्रक्रिया है, शरीर में नियंत्रणकारी प्रक्रियाओं और द्रव्य-विनिमय की गड़बड़ियों का आधार है, जिनके कारण खीरकठोरन का विकास होता है। आधुनिक जीवन की लय तथा शैली में विसंगति और निष्क्रिय विश्राम की परिस्थि-तियां – यही मुख्य खतरा है।

आधुनिक सभ्यता को मनुष्य ने खुद जन्म दिया है। सृजन और संज्ञान का आनंद उसके जीवन का अर्थ था और है। उसे विवेकसंगत जीवन व्यतीत करना चाहिये। काम मेहनत के साथ करना चाहिये, पर विश्राम के क्षण भी उसे सक्रिय रहना चाहिये। किस तरह से? यह तो सभी अपनी-अपनी पसंद के मुताबिक चुनते हैं। किसी को खेल-कूद में रुचि है, किसी को चित्रकारी या संगीत में; कोई मछली मारने जाता है, तो कोई शिकार खेलने। मुख्य बात है कि रुचि होनी चाहिये, मानसिक, सांस्कृतिक और बौद्धिक विकास होना चाहिये; स्त्रेस इसी से दूर होता है।

लेकिन कितना भी खेल-कूद क्यों न किया जाये, कला और सृजना में वक्त क्यों न गुजारा जाये, विश्राम कितना भी विवेक-

अखिल संघीय वैज्ञानिक हृदलोचनी केंद्र का दृश्य
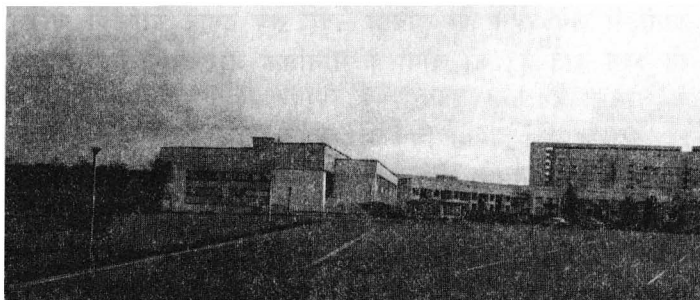
संगत क्यों न बनाया जाये, धूम्रपान और शराब बिल्कुल ही क्यों न छोड़ दी जाये, आयुर कितना भी विकसित क्यों न हो जाये, – इन सब का प्रभाव तुरंत खत्म हो जाता है, जब आदमी के साथ रूखाई और बदतमीजी का व्यवहार होता है। इससे रागात्मक तनाव बहुत ज्यादा बढ़ जा सकता है। शब्द एक शक्तिशाली नर्व-क्षोभक है, जो किसी भी शारीरिक या रसायनिक घटक से अधिक खतरनाक सिद्ध हो सकता है। एक कहावत भी है कि शब्द आदमी की जान ले सकता है। तभी तो हमें अपने पर नियंत्रण करना सीखना चाहिये, और बात-बात पर बिगड़ने वाले, डाट-डपट करने वाले लोगों पर दबाव डालना चाहिये कि वे ऐसा न करें। मैत्री, करुणा, आत्म-नियंत्रण और आसपास के लोगों के प्रति आदर का भाव – यह सब सिर्फ सदाचार नहीं है। यह हृदय-रोगों की रोकथाम का साधन है, भावी संततियों के नैतिक और शारीरिक स्वास्थ्य की धरोहर है।

जहां तक हम हृदयलोचकों का प्रश्न है, हमें अभी अनेक तरह
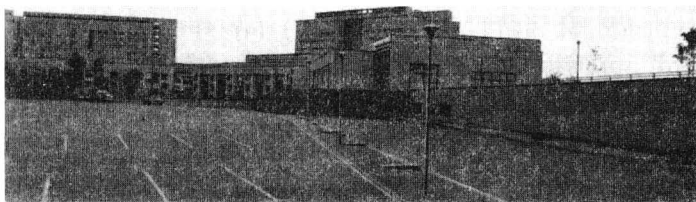
के जटिल अन्वीक्षण पूरे करने हैं, जिनसे हृत्कुंभिक रोगों के निरोध की विशेष विधियां विकसित की जा सकेंगी। फिर ये विधियां व्यावहारिक डाक्टरों के हाथों सौंपनी है।

अभी मैं अखिल संघीय वैज्ञानिक हृदलोचनी केंद्र में काम कर रहा हूँ। इसका विशाल भवन 1971 के अखिल संघीय लेनिन सुबोत्निक (शनीवारी श्रमदान) के दिन देश के सभी मेहनतकशों द्वारा अर्जित साधन से बनाया गया है। मास्को के किनारे जंगल से घिरे मैदान में निर्माताओं ने भवन की नींव का खाका खींचना ही शुरू किया था, केंद्र के सहकर्मी उसी समय अपना वैज्ञानिक कार्यक्रम पूरा करने में लग गये थे और आज भी उसे तन-मन से अर्पित हैं।

जैसा कि विज्ञान में होता है, जितनी ही अधिक समस्याएं हल होती हैं, उतनी ही नयी समस्याएं उत्पन्न हो जाती हैं। मैंने आपको प्रयोगकर्ता-हृदलोचकों के बारे में बता चुका हूँ, हृत्पेशीय कोशिका के संकोचन की जीवरसायनिक क्रियाविधि – कोशिका में ऊर्जा-वहन और आयनी पंपों के कार्य – के सविस्तार

अध्ययन का दिग्दर्शन करा चुका हूँ। हृदलोचकों द्वारा निर्धारित तथ्यों ने पेशीय संकोचन को नये प्रकाश में दिखाया है, जिसका निष्कर्ष है कि पेशीय शिथिलन भी एक सक्रिय प्रक्रिया है! कोशिका की पेशीय तंतिकाओं का पुरानी अवस्था में संक्रमण ताने गये स्प्रिंग द्वारा पुरानी लंबाई प्राप्त करने की क्रिया नहीं है, वह अन्य प्रकार की जीवरसायनिक प्रतिक्रियाओं की श्रृंखला है, जो कैल्सियम के आयनों को नये सिरे से वितरित करती है। समझना जरूरी है कि यह सब कैसे होता है, आयनों का वापसी प्रवाह कैसे नियंत्रित होता है, उसे कैसे प्रभावित किया जा सकता है। (पिछले वर्षों में अमरीकी कलीगों के साथ मिलकर हमने एक दिलचस्प औषधीय प्रसाधन का अध्ययन किया है, जो पेशीय शिथिलन को प्रभावित कर सकता है। हृदय की अपूर्णता के इलाज की विधि विकसित करने के लिये यह बहुत ही महत्त्व-पूर्ण सिद्ध होगा।)

हृदलय की गड़बड़ी की शरीरलोचनी और जीवरसायनिक क्रियाविधि के अध्ययन के दौरान एक और अज्ञात क्षेत्र सामने आया है। इसे समस्याओं का संचय ही कह सकते हैं, जिन्हें प्रयोगकर्ता हल करेंगे। लेकिन फिर इसके बाद कौनसी समस्याएं उठेंगी?.. सिर्फ एक बात स्पष्ट है: जीवरसायन और शरीरलोचन को हम जितनी ही अधिक गहराई से जानेंगे औषधलोचक उतना ही सचेत होकर नयी औषधियों की खोज कर सकेंगे।

अज्ञात बातें सिर्फ शरीर के भीतर ही नहीं हैं। उसमें जो भी घटना घटती है, वह बाहरी दुनिया, परिवेश और (व्यापक अर्थ में) आदमी की जीवन-शैली की ही प्रतिध्वनि है। इसीलिये हृत्कुंभिक रोगों के विकास और प्रसार में सहायक 'क्षतिकारी

घटकों' और 'आशंका-घटकों' का अन्वीक्षण जारी रखना आवश्यक है।

कुछ घटक तो सफलतापूर्वक ज्ञात हो गये थे – नार्विक झटके, धूम्रपान, मद्यपान। रोग-वृत्त के विश्लेषण से ही उनकी भूमिका स्पष्ट हो गयी थी : इन्फार्क्त के 82% रोगी धूम्रपान के गहरे आदी थे, तीव्र हृदय-अपूर्णता से अकाल-मृत्यु को प्राप्त 30% पुरुषों की हृत्पेशी में अल्कोहल के स्थायी प्रभाव से ऊतकों का अवजनन छोड़कर रोग-अनाटोमीविदों को और कुछ नजर नहीं आया। मैं सोचता हूँ कि यहां नैतिकता का उपदेश देने की कोई आवश्यकता नहीं है। समझदार लोग आवश्यक निष्कर्ष स्वयं निकाल लेंगे। अन्य क्षतिकारी घटकों (जैसे भिन्न पेशों में लोगों के दैनंदिन कार्यक्रम) के विश्वस्त अन्वीक्षण में काफी समय लगा था।

अभी हमारे जनमारीलोचकों को अप्रत्याशित आँकड़े मिले हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि खीरकठोरन का प्रसार विभिन्न भौगोलिक क्षेत्रों में समान नहीं है। बिल्कुल उत्तरी इलाके के लोगों को यह रोग बहुत कम होता है, बनिस्बत कि देश के मध्यवर्ती इलाकों के लोगों को। यहां आनुवांशिक घटकों, खान-पान, रहन-सहन, श्रम की परिस्थितियों आदि अनेक तत्त्वों की भूमिका स्पष्ट करनी होगी।

और जैसा कि किसी भी अन्य अन्वीक्षण-क्षेत्र में होता है, यहां भी पहले से नहीं कहा जा सकता कि भविष्य में इन रोगों के प्रसार से संबंधित और कौनसे प्रश्न उठेंगे। लेकिन हल बहुत करना होगा ; इसके बिना हम हृत्कुंभिक रोगों की निरोध-सेवा को विकसित नहीं कर पायेंगे।

हमारे वैज्ञानिक केंद्र के प्रतिष्ठानों में से एक विशेष संस्थान

भी है, जो सिर्फ इन्हीं समस्याओं का अध्ययन करता है। वह अलग-अलग निरोधक हृदलोचन-विभागों का नेतृत्व करेगा, जो अनेक शहरों में संगठित किये गये हैं। इनमें अनेक वर्षों से लोगों की जाँच चल रही है कि उनमें रोग के कोई लक्षण उत्पन्न हो रहे हैं या नहीं। सबसे पहले उन लोगों की जाँच होती है, जो बड़े-बड़े कारखानों में काम करते हैं, क्योंकि वहां काम का लय अधिक तीव्र होता है। इसमें बहुत से लोग ऐसे मिले हैं, जिनमें अतितान अपने आरंभिक चरण पर है, लेकिन उन्हें इसका बिल्कुल ही पता नहीं है। उनकी चिकित्सा होती है, फिर उन्हें स्थायी प्रेक्षण के अंतर्गत रखा जाता है। निरोधक हृदलोचनी संस्थान के तल्पालय में ऐसी विधियों का विकास और परीक्षण चल रहा है, जिनसे रोग की आरंभिक चरण पर ही चिकित्सा हो जाये और लंबी अवधि तक रोगी का स्वास्थ्य सुरक्षित रहे।

अब हमारे यहां हर संघीय गणतंत्र में हृदलोचनी डिस्पेंसरी बन चुकी हैं। इनमें चिकित्सा और अन्वीक्षण के अतिरिक्त रोग-निरोध के संगठन का काम भी होगा।

यदि मैं हृदलोचक की जगह जठरांत्रलोचक करोर्जक या कोई अन्य आयुर-विशेषज्ञ होता, तो आयुर के किसी अन्य क्षेत्र के बार में बताता। दूसरे तथ्य, दूसरी वैज्ञानिक सामग्रियां प्रस्तुत करता, पर वह कहानी भी कई बातों में इसी के सदृश होती, क्योंकि वह भी आयुर के बारे में होती, और हमारे पूरे आयुर में कुछ सामान्य प्रक्रियाएं चल रही हैं।

वैसे, मैं कल्पना भी नहीं कर सकता कि मैं हृदलोचक छोड़कर कुछ और बनता। मुझे अपना काम पसंद है। मेरा हृदलोचन आधुनिक आयुर का सबसे अधिक समस्याओं और परिवर्तनों वाला क्षेत्र है। यह महसूस करना बहुत ही महत्त्वपूर्ण

है कि आदमी एक आवश्यक, उपयोगी और कल्याणकारी काम में लगा हुआ है।

आधुनिक आयुर के पास रोगों से संघर्ष के अनुभव का बहुत बड़ा भंडार संचित हो चुका है। कई रोग आमूल नष्ट किये जा चुके हैं। उनके उन्मूलन में मुख्य भूमिका अक्सर विशेष आयुर-सेवाओं की ही रही है, जिन्हें इसके लिये संगठित किया गया था। जनमारीलोचनी सेवा ने अनेक छूतहे रोगों का उन्मूलन कर दिया है। विशेष क्षयचिकित्सा-सेवा ने टी. बी. को बहुत कम कर दिया है: युद्धपूर्व हमारे यहां लाखों लोग इससे पीड़ित थे। अब हृदलोचनी सेवा का जन्म हुआ है: विशेष तल्पालय हैं, अस्पतालों में इसके विशेष विभाग हैं, हृदलोचनी डिस्पेंसरियां हैं, 'निर्विलंब सेवा' के विशेष जत्थे हैं, बड़े-बड़े शहरों में मंत्रणालय हैं, जहां आवश्यकता पड़ने पर अन्य शहरों, गाँवों और कस्बों से टेलीफोन-संचार द्वारा विद्युहृदलेख भेज दिया जाता है। (हृदलेख आज जब अंतरिक्ष-यान से पृथ्वी पर भेजा जा सकता है, तो एक शहर से दूसरे शहर क्यों नहीं भेजा जा सकता!)

जिस तरह एक जमाने में दीप्तिलेखन (फ्लुओरोग्राफी, प्रतिदीप्त पर्दे पर फोटो-चित्र प्राप्त करने की विधि) अनेक रोगियों के फेफड़े में क्षति आरंभिक चरण में ही ज्ञात करने और उनकी चिकित्सा करने में सहायक हुआ, उसी तरह ऐसा भी समय आयेगा जब हमारी हृदलोचनी-सेवा भी हर तरह के हृत्कुंभिक रोग को शुरू में ही पकड़ सकेगी और उसकी चिकित्सा कर सकेगी। इससे करोड़ों रोगियों की उम्र लंबी की जा सकेगी। गंभीर रोगियों के इलाज की समस्या ही नहीं रह जायेगी। लेकिन इसके लिये हम आयुरकों को पूरे हृदय से कठिन श्रम करना होगा।

और कोई रास्ता नहीं है। डाक्टर के चरित्र में जो सबसे महत्त्वपूर्ण बात है, इसके बारे में महान रूसी चित्रकार लेवीतान ने एक पत्र में लिखा था:

"हृदय की चिकित्सा सिर्फ हृदय से संभव है।"

परिशिष्ट

चंद परिभाषाएं

[संकेत : त . – तत्संबंधी (विशेषण) , वि . – विज्ञान का नाम , ज्ञा . – ज्ञाता , स . – समानार्थक शब्द ।]

अतितान – हृत्कुंभी-तंत्र का रोग , जो मानसिक चोट और अत्यधिक मानसिक तनाव की परिस्थितियों में होता है ; इसका मुख्य लक्षण है – धमनियों में रक्त-दाब ऊँचा होना ।

अनाटोमी – अंगों के व्यौम तथा क्रियात्मक संबधों और उनके विकास का ज्ञान प्राप्त करने के लिये आदमी और जंतुओं के शरीर की बनावट का अध्ययन । त . अनाटोमिक ; ज्ञा . अनाटोमी-विद , अनाटोमक ।

अपूर्णता – (किसी अंग की) – ऐसी अवस्था , जिसमें अंग पूरी तरह अपना काम नहीं कर पाता ।

अस्पताल – रोग की चिकित्सा और निरोध के लिये रोगियों को जगह देने वाला , उनकी देख-भाल करने वाला प्रतिष्ठान । स . चिकित्सालय ।

आपरेशन – रोग की पहचान या चिकित्सा के लिये चीरफाड़ द्वारा शरीर में हस्तक्षेप ।

आयुर – स्वास्थ्य , आयु , रोग , रोगों की रोकथाम व

चिकित्सा विषयक विज्ञानों और व्यावहारिक कार्यकलापों का तंत्र। स. मेडीसीन। त. आयुरी ; ज्ञा. आयुरक।

इन्फार्क्त – ऊतक का मृत भाग (अचानक रक्त आपूर्त्ति रुकने से)।

इमूनता – जैव या अजैव रोगकारियों के विरूद्ध शरीर की प्रतिरोध-क्षमता। इमूनन – इस इमूनता का विकास। त. इमूनी (प्रतिक्रिया, अपूर्णता) ; वि. इमूनलोचन।

करोर्जन – चिकित्सा के लिये आपरेशन की आवश्यकता और आपरेशन की विधियों का अध्ययन। स. खिरुर्गीया, सर्जरी। त. करोर्जिक ; ज्ञा. करोर्जक।

कुंभी – नन्हा पात्र ; शरीर में रक्तवाही (या लसीकावाही) कूप, नलिकाएं आदि। त. कुंभिक।

खमीर – रसायनिक प्रतिक्रिया में जैव मूल का उत्प्रेरक (अक्सर कोई प्रोटीन)। स. फर्मेंट।

चिकित्सा – रोगी को स्वस्थ करने के लिये प्रयुक्त कोई भी उपाय। स. इलाज। ज्ञा. चिकित्सक।

जोंडन – निरीक्षण, औषध-आधान या किसी अन्य चिकित्सा-कर्म के लिये शरीर के भीतर स्थित संचार-नलियों, गुहाओं, कोटरों आदि में कोई नन्हा औजार या उपकरण (जोंड) प्रविष्ट कराना।

तल्पालय – प्रतिष्ठान, जहां चिकित्सा और निरोध के साथ-साथ आयुर संबधी शिक्षण, अध्ययन, अन्वीक्षण तथा अन्वेषण के भी काम होते हैं। त. तल्पिक ; ज्ञा. तल्पक, तल्पविद ; वि. तल्पिकी। तल्पिक चित्र – रोग की कुल अभिव्यक्ति।

थेरापी – चिकित्सा ; विशेषकर परंपरागत चिकित्सा, जिसमें करोर्जन का उपयोग न हो। त. थेरापिक ; ज्ञा. थेरापक।

धमनी – हृदय से अन्य सभी अंगों तक आक्सीजन से सांद्रित रक्त पहुँचाने वाली कुंभी (सिर्फ फुप्फुसी धमनी में शिरीय रक्त बहता है)। **महाधमनी** – हृदय के वाम कक्ष से निकलने वाली मुख्य धमनी, जो क्रमशः अन्य धमनियों में विशाखित होती जाती है।

नर्व – शरीर के किसी (परिसरीय) भाग से मस्तिष्क तक संवेदना का आवेग (स्पंद) वहन करने वाली स्नायु। त. नार्विक। **नर्व-तंत्र** (नार्विक तंत्र) – मस्तिष्क, नर्वों, गुच्छि-काओं, और ज्ञानेंद्रियों का संकुल, जो संवेदना का बोध, उद्दीपन का वहन और शोधन, जवाबी प्रतिक्रिया की उत्पत्ति और परिवेश के साथ व्यतिक्रिया संबंधी जीवक्रियाओं का समन्वय तथा नियंत्रण आदि कार्य संपन्न करता है।

निदान – रोगी से पूछताछ और उसके निरीक्षण के आधार पर रोग का निर्णय करना। त. निदानिक ; ज्ञा. निदानक ; वि. निदानिकी। **फलनात्मक निदानिकी** – अंगों की क्रियात्मक अवस्था के अन्वीक्षण पर आधारित निदान का विज्ञान।

निरोध – रोग की रोकथाम और उससे रक्षा के उपाय। त. निरोधी।

निस्स्फुरण – हृत्पेशियों के अलग-अलग तंतुओं के अनियमित स्फुरण (फरकन) को दूर करना, जिससे हृत्पेशियां एक लय में संकुचित हो सकें।

पैठन – शरीर में सूक्ष्म जीवों का प्रवेश और प्रजनन, जिसके

फलस्वरूप शरीर या उसका भाग रुग्न हो जाता है। यदि रुग्न न भी हो, तो शरीर उनका वाहन बना रहता है, उन्हें दूसरे लोगों या जीवों तक पहुँचाने का काम कर सकता है। स. इन्फेक्शन। अन्य शब्द : पैठी (अपैठी) रोग ; पैठित अंग।

पोलीक्लीनिक (पौरतल्पालय ; ग्रीक 'पोलिस' अर्थात् 'नगर', 'पुर' से) – समाजवादी देशों में राज्य द्वारा संगठित प्रतिष्ठान, जहां तरह-तरह के रोग-विशेषज्ञ बैठते हैं। लोग यहां सलाह, जाँच, इलाज और रोग-निरोध के लिये आते हैं। यहां से डाक्टर को घर भी बुला सकते हैं। स. (सरकारी) डाक्टर-खाना।

प्रतिवर्त – संवेदनाग्राही अंग के उद्दीपन (उसमें क्षोभ) के जवाब में नार्विक तंत्र द्वारा कार्यान्वित प्रतिक्रिया।

फोस्फोरीलीकरण – जीव में आक्सीकरण और संश्लेषण की प्रक्रियाओं के फलस्वरूप किसी शक्कर से फोस्फेट बनना और फोस्फेट के विघटन से जीवक्रियाओं के लिये ऊर्जा प्राप्त होना।

लैंसेट – नन्ही बरछी ; नन्ही करोर्जिक छूरी, जिसका सिरा छोटा, बरछे की तरह चपटा और दुधारी होता है। सिरे की आकृति कई तरह की हो सकती है।

लोष्टन – रक्त-संचार में रोध (रोड़ा, लोष्ट) पड़ना।

विछेदन – अंग या उसका कोई भाग आपरेशन द्वारा निकाल देना।

व्यतिक्रिया – आपसी क्रिया ; एक-दूसरे के कार्यों को प्रभावित करने वाली क्रियाएं।

शरीरलोचन – पूरे शरीर तथा उसके अंगों की जीवक्रियाओं का अध्ययन, जिससे जीवक्रियाओं तथा परिवेश के साथ जीव की व्यतिक्रियाओं के नियम तथा कारण ज्ञात होते हैं। त. शरीर-लोचनी ; ज्ञा. शरीरलोचक।

शिरा – परिसरीय अंगों से हृदय की ओर आक्सीजन-विहीन रक्त वहन करने वाली कुंभी (सिर्फ फुप्फुसी शिरा में धमनीय रक्त बहता है)।

शोथ – रोगकारी क्षोभकों के विरुद्ध जीवप्रतिक्रिया, जिसके फलस्वरूप क्षत ऊतक या अंग में रक्तातिरेक, लाली, जलन, दर्द और स्फीतन अवलोकित होता है।

सिंड्रोम – रोगलक्षण-समूह।

स्कंदक्लेश – कुंभी में कहीं पर रक्त के स्कंदन (थक्का बनने) से रक्त-संचार में रोध।

स्त्रेस – असामान्य क्षोभकों की क्रिया से जीव में उत्पन्न तनाव।

हृत्कुंभी – हृदय और कुंभियां।

हृद्य कुंभी – हृदय की कुंभियां।

हृत्पेशी – हृदय की पेशी।

हृदलोचन – हृत्कुंभी-तंत्र के रोगों के कारणों, उनकी अभि-व्यक्ति, पहचान, इलाज तथा उनके निरोध का विज्ञान।

पाठकों से

मीर प्रकाशन इस पुस्तक के अनुवाद और डिजाइन संबंधी आपके विचारों के लिये आपका अनुगृहीत होगा। आपके अन्य सुझाव प्राप्त कर के भी हमें बड़ी प्रसन्नता होगी। कृपया हमें इस पते पर लिखिये :

मीर प्रकाशन
पेर्वी रीज़्स्की पेरेउलोक, २
मास्को, सोवियत संघ।

विख्यात सोवियत थेरापिस्ट तथा वैज्ञानिक येव्गेनी इवानोविच चाजोव (जन्म 1929) सोवियत विज्ञान अकादमी तथा सोवियत आयुर अकादमी के सदस्य हैं।
उनकी 'हृदपेशी का इन्फार्क्त', 'निर्विलंब हृदलोचन (निबंध-संग्रह)', 'हृदलय-विकार', 'स्कंदक्लेश और लोष्टन' आदि कृतियां – अनेक देशों में प्रकाशित हो चुकी हैं।
राष्ट्रीय आयुर के विकास और हृदलोचनी सेवा के संगठन के लिये वे समाजवादी श्रमवीर की उपाधि से सम्मानित हैं। अपने कार्यों के लि लेनिन पुरस्कार तथा चार सोविय राज्य पुरस्कार प्राप्त कर चुके हैं ये० चाजोव सर्वोच्च सोवियत के प्रतिनि धि हैं, साथ ही सोवियत संघ स्वास्थ्य मंत्री हैं और अखिल सोविय हृदलोचनी वैज्ञानिक केंद्र के महानिदेश भी। वे अंतर्राष्ट्रीय आंदोलन "दुनिय के डाक्टर – नाभिकीय युद्ध की रोकथा के लिये" के संगठक के रूप में वि विख्यात समाज-सेवी और नोबे पुरस्कार-विजेता भी हैं।

मीर प्रकाशन